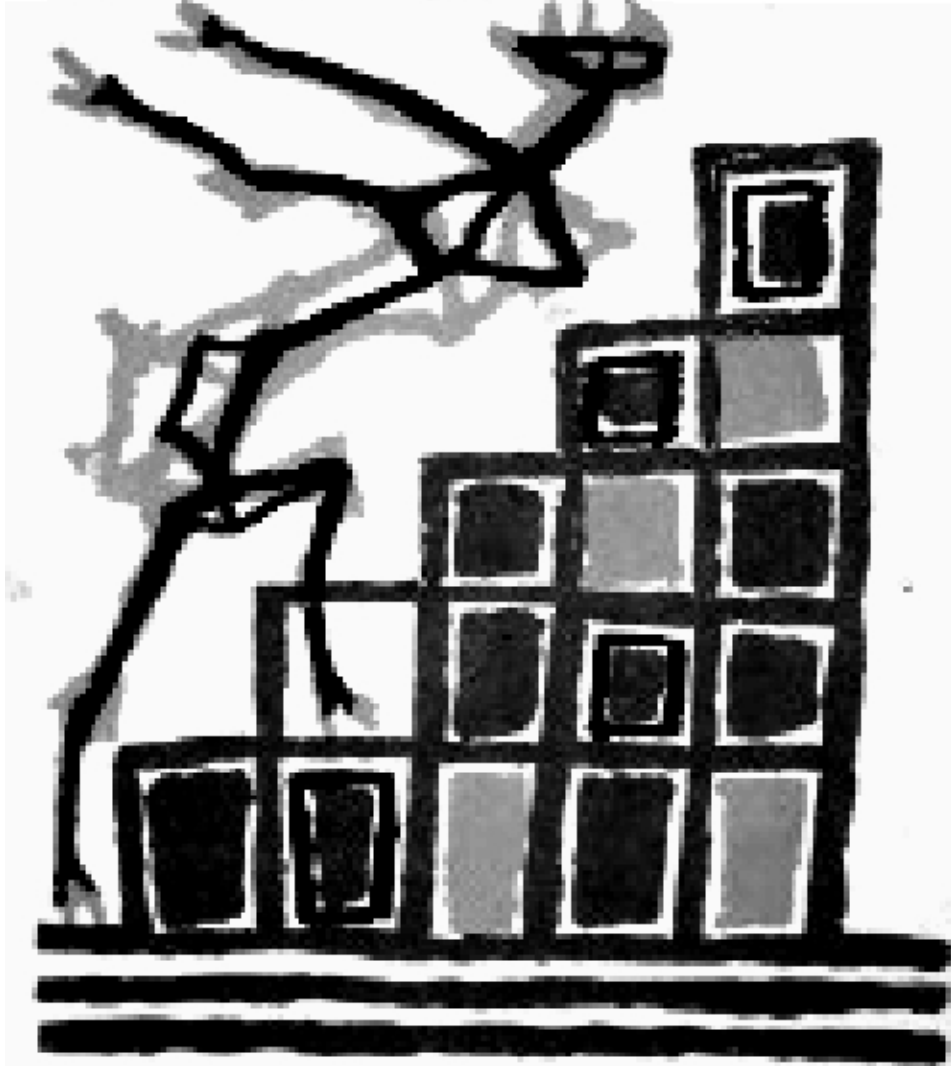


मेधा का उत्पीड़न

सामयिक वार्ता

नवम्बर 2015 □ मूल्य : 20 रुपए



क्या मनुष्य पूर्ण रूप से तार्किक हो सकता है

- लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य
- बोलिविया में खनन
- काला धन की चुनौती
- शिक्षा में लाठीतंत्र का मसला
- निर्भया इतने भर से सुरक्षित रहेगी?
- परमाणु ऊर्जा का सच

बूढ़ी पृथ्वी का दुख

निर्मला पुतुल

क्या तुमने कभी सुना है
सपनों में चमकती कुल्हाड़ियों के भय से
पेड़ों की चीत्कार ?

कुल्हाड़ियों के वार सहते
किसी पेड़ की हिलती टहनियों में
दिखाई पड़े हैं तुम्हें
बचाव के लिए पुकारते हजारों-हजार हाथ ?

क्या होती है, तुम्हारे भीतर धमक
कटकर गिरता है जब कोई पेड़ धरती पर ?

सुना है कभी
रात के सन्नाटे में अँधेरे से मुँह ढाँप
किस कदर रोती हैं नदियाँ ?

इस घाट अपने कपड़े और मवेशियाँ धोते
सोचा है कभी कि उस घाट
पी रहा होगा कोई प्यासा पानी
या कोई स्त्री चढ़ा रही होगी किसी देवता को अर्घ्य ?

कभी महसूस किया कि इस कदर दहलता है
मौन समाधि लिये बैठा पहाड़ का सीना
विस्फोट से टूटकर जब छिटकता दूर तक कोई पत्थर ?
सुनाई पड़ी है कभी भरी दुपहरिया में
हथौड़ों की चोट से टूटकर बिखरते पत्थरों की चीख ?

खून की उल्टियाँ करते
देखा है कभी हवा को, अपने घर के पिछवाड़े ?

थोड़ा सा वक्त चुराकर बतियाया है कभी
कभी शिकायत न करने वाली
गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुख ?

अगर नहीं, तो क्षमा करना !
मुझे तुम्हारे आदमी होने पर सन्देह है !!

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कविता संग्रह
'नगाड़े की तरह बजते शब्द' से साभार

सामयिक वार्ता

नवम्बर 2015, वर्ष 39 अंक 3-4

संस्थापक संपादक : किशन पटनायक

संपादक मंडल

सच्चिदानंद सिन्हा (अध्यक्ष)

कमल बनर्जी, अफलातून, संजय भारती, बाबा मायाराम,

चंचल मुखर्जी (संयोजक)

संपादन सहयोग

लोलार्क द्विवेदी, संजय गौतम, प्रियदर्शन

अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन

अरुण कुमार त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

महेश विक्रम सिंह

प्रबन्ध सहयोग : नीता चौबे

परामर्श मंडल

योगेन्द्र यादव, स्मिता, कश्मीर उप्पल

अक्षर संयोजन : गौरीशंकर सिंह

आवरण चित्र : लोहिया की पुस्तक 'जातिप्रथा' के

आवरण के लिए मकबूल फिदा हुसैन के चित्र पर

आधारित

खाता नाम - सामयिक वार्ता

या Samayik Varta

बैंक ऑफ बड़ौदा (Bank of Baroda)

शाखा - सोनारपुरा, वाराणसी

Sonarपुरा, Varanasi (U.P.)

खाता संख्या **40170100005458**

IFSC Code : BARB0SONARP

(यहाँ दूसरे B के बाद जीरो है, ओ नहीं

S के बाद O (ओ) है।)

MICR CODE : 221012030

इस खाते में पैसा जमा करने तथा ग्राहक के पते की सूचना

इ-मेल अथवा मोबाइल-08765811730/ 08004085923

कार्यालय

डी. 28/160, पाण्डे हवेली, वाराणसी-221001

फोन : 08004085923 (संपादन),

08765811730 (प्रबंध)

e-mail- varta3@gmail.com

सदस्यता शुल्क : एक प्रति : 20/-, वार्षिक शुल्क : 150/-, संस्थागत वार्षिक शुल्क : 200/-

पाँच वर्षीय शुल्क : 600/-, आजीवन शुल्क : 2000/-

इस अंक में

- 2 मेधा के उत्पीड़न से सबक
- 3 बुढ़ाते एक्टविस्ट का युवा एक्टविस्ट रोहित को पत्र
- 6 क्या मनुष्य पूर्ण रूप से तार्किक हो सकता है
सच्चिदानंद सिन्हा
- 11 कागज तुम्हारा जमीन हमारी
डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा
- 13 नवउदारवादी अर्थव्यवस्था में विषमता
की चौड़ी होती खाई (2)
अरुण कुमार त्रिपाठी
- 17 परमाणु ऊर्जा, जन व पर्यावरण का विनाश
कुमार सुन्दरम
- 23 क्या निर्भया इतने भर से सुरक्षित रहेगी?
प्रियदर्शन
- 25 काला धन की चुनौती : भारत के कदम पीछे
अरुण कुमार
- 27 माल एवं सेवा कर : महत्वपूर्ण मुद्दे
अरुण कुमार
- 29 लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य
महेश विक्रम
- 35 लाठीतंत्र में शिक्षा का मसला
सुयश सुप्रभ
- 37 अशोक सेकसरिया स्मृति गोष्ठी
- 38 बोलीविया का खनन उद्योग
डोमितिला चुन्गारा
- 44 पुस्तक चर्चा : ग्लोबल गाँव के देवता
संजय गौतम
श्रद्धांजलि : चित्त डे

मेधा के उत्पीड़न से सबक

एक अत्यन्त मेधावी, सुन्दर और संवेदनशील युवा राजनैतिक तरुण की मौत ने भारतीय समाज को हिला दिया है। इस युवा में जोखिम उठाने का साहस था और अपने से ऊपर की पीढ़ी के उसूलों को आंख मूंद कर न मानने की फितरत थी। वह एक राजनैतिक कार्यकर्ता था, उसका संघर्ष राजनैतिक था। वह आतंक के आरोप में दी गई फांसी के विरुद्ध था तो साथ-साथ आतंक फैलाने के लिए सीमा पार से आये घुसपैठियों से मुकाबला करते हुए मारे गए जवानों की शहादत के प्रति श्रद्धावनत होकर उसने कहा था, 'अम्बेडकरवादी होने के नाते मैं जिन्दगी का पक्षधर हूँ। इसलिए उन जवानों की शहादत के प्रति नमन करता हूँ।' उसकी मेधा से टक्कर लेने की औकात उसकी विरोधी विचारधारा से जुड़े उस शिक्षण संस्था के छात्रों में नहीं थी और न ही उस शैक्षणिक संस्था के बौने कर्णधारों में थी इसलिए सत्ता के शीर्ष पर बैठे आकाओं की मदद से एक चक्रव्यूह रचा गया था। सत्ताधारी ताकतें रोहित द्वारा फांसी की सजा के विरोध की चर्चा करती हैं लेकिन रोहित के समूह (अम्बेडकर स्टुडेंट्स एसोशियेशन) द्वारा मनु-स्मृति दहन तथा गत नौ वर्षों में 9 दलित छात्रों द्वारा शैक्षणिक उत्पीड़न के कारण की गई आत्महत्याओं के विरोध की चर्चा करने का साहस नहीं जुटा पातीं।

लखनऊ में अम्बेडकर विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में छात्रों के प्रत्यक्ष विरोध के बाद प्रधानमंत्री जिस भाषण में 'मां भारती के लाल की मृत्यु' के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करते हैं वहीं यह कहने से हिचकिचाते नहीं हैं कि बाबासाहब अपने जीवन में आने वाले कष्ट चुपचाप सहन कर जाते थे, किसी से शिकवा तक नहीं करते थे। बाबासाहब के बारे में प्रधानमंत्री का दावा निराधार है। बाबासाहब द्वारा महाड सत्याग्रह (अस्पृश्यों के वर्जित तालाब से घोषणा करके, समर्थकों के साथ पानी पीना) तथा मनुस्मृति दहन चुपचाप सहन करते जाने का विलोम थे। पुणे करार के दौरान हुई बातचीत में गांधीजी ने उनकी वकालत के बारे में पूछा था। बाबासाहब ने उन्हें बताया था कि अपने राजनैतिक-सांठनिक काम के कारण वे वकालत में कम समय दे पा रहे हैं। उसी मौके पर शैशव से तब तक

उनके साथ हुए सामाजिक भेदभाव और उत्पीड़न की उनके द्वारा बताई गई कथा गांधी के विचार पत्रों -हरिजनबंधु (गुजराती), हरिजनसेवक (हिन्दी) तथा हरिजन (अंग्रेजी) में छपे थे।

भारतीय समाज और राजनीति में कुछ सकारात्मक बदलाव भी आ रहे हैं। पिछड़े और दलित खुली स्पर्धा में अनारक्षित सीटों पर दाखिला पाते हैं, वजीफा हासिल करते हैं और लोक सेवा आयोग की अनारक्षित सीटों पर चुने जाते हैं। यह समाज की सकारात्मक दिशा में गतिशीलता का मानदण्ड बनता है। ऐसे युवाओं की तादाद उत्तरोत्तर बढ़ रही है और बढ़ती रहेगी। गैर आरक्षित खुली सीटों पर चुने जाने वाले ऐसे अभ्यर्थियों के कारण आरक्षित वर्गों के उतने अन्य अभ्यर्थियों को आरक्षण के अन्तर्गत अवसर मिल जाता है। यहां यह स्पष्ट रहे कि यदि अनारक्षित खुली स्पर्धा की सीटों पार आरक्षित वर्गों के अभ्यर्थियों को जाने से रोका जाएगा तब उसका मतलब गैर-आरक्षित तबकों के लिए पचास फीसदी आरक्षण देना हो जाएगा। सामाजिक यथास्थिति की ताकतें इस सकारात्मक परिवर्तन से खार खाती हैं। इस प्रकार पढ़ाई-लिखाई में कमजोर ही नहीं मेधावी छात्र-छात्राओं को भी विद्वेष का सामना करना पड़ता है। यानी उत्पीड़न का आधार छात्र का पढ़ाई में कमजोर या मजबूत होना नहीं अपितु उसकी जाति होती है।

शैक्षणिक संस्थाएं व्यापक समाज का हिस्सा भी हैं और वहीं इनकी अपनी एक दुनिया भी है। हर जमाने के सत्ता संतुलन को बनाये रखने के लिए जिन लोगों की आवश्यकता होती है उनका निर्माण इन संस्थाओं में किया जाता है। रोहित को यथास्थितिवाद का पुर्जा बनाना शिक्षा व्यवस्था के बस की बात न थी। व्यापक समाज और विश्वविद्यालय परिसर को देखने की उसकी दृष्टि सृजनात्मक थी, दकियानुसी नहीं थी। हैदराबाद शहर के बाहर बसाये गये इस परिसर के पेड़-पौधे, जीव-जंतुओं से लगायत अंतरिक्ष तक उसकी नजर थी। अपनी राजनीतिक पढ़ाई के अलावा कुदरत से मानव समाज की बढ़ रही दूरी को वह शिद्दत से महसूस करता था। उसके फेसबुक चित्रों का एक अल्बम हैदराबाद विश्वविद्यालय की वानस्पतिक और जैविक

संपदा के सूक्ष्म निरीक्षण से खींचे गए फोटोग्राफ्स को समर्पित है।

रोहित जैसा होनहार तरुण की प्रतिभा उच्च शिक्षा के प्रतिष्ठानों में पुष्पित-पल्लवित हो सके यह अत्यन्त दुरूह है। इस दुर्गम पथ पर चलते वक्त उसे कदम-कदम पर लड़ना पड़ा होगा। राजनीति और शिक्षा के संचालकों को उसने चुनौती दी होगी। किसी देश का लोकतंत्र उसकी संस्थाओं के अलोकतांत्रिकरण से कमजोर होता है। उन संस्थाओं में लोकतंत्र की मजबूती के लिए जरूरी है कि प्रशासनिक तंत्र के हर स्तर पर छात्र-अध्यापक-कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व हो। उच्च शिक्षण संस्थाओं की स्वायत्तता की पोल खुलनी अब शेष नहीं है। दिल्ली विश्वविद्यालय में केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री की शैक्षणिक 'उपलब्धियों' की सूचनाओं को देने के जिम्मेदार बाबुओं के खिलाफ कार्रवाई के वक्त ही विश्वविद्यालय की स्वायत्तता की हकीकत सामने आ गई थी। राष्ट्रीय महत्व की संस्थायें आई.आई.टी. से लगायत इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट जैसे तमाम शिक्षण संस्थानों में दिल्ली में बैठे शैक्षणिक तंत्र के नौकरशाहों द्वारा बेहयाई से दखलंदाजियां की गई हैं।

उच्च शिक्षा केन्द्रों में यौन उत्पीड़न की रोकथाम के लिए सर्वोच्च न्यायालय के विशाखा फैसले की सिफारिशों की मूल भावना के अनुरूप समितियां बनी हैं। जातिगत विद्वेष की रोकथाम के लिए भी इस प्रकार की समितियां गठित होनी चाहिए। फिलहाल विश्वविद्यालयों में अनुसूचित

जाति प्रकोष्ठ बने हुए हैं परन्तु वे नख-दन्त विहीन हैं। लाजमी तौर पर इन समितियों में पिछड़े और दलित समूहों की नुमाइन्दगी भी होनी चाहिए। यह गौरतलब है कि गैर-शिक्षक कर्मचारी चयन, शिक्षक व गैर-शिक्षक आवास आवण्टन समिति में अनुसूचित जाति/जनजाति का प्रतिनिधित्व होता है। इनमें पिछड़ी जातियों तथा महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के विजिटर पदेन राष्ट्रपति होते हैं तथा इन्हें विश्वविद्यालयों की प्रशासनिक-शैक्षणिक जांच के अधिकार का प्रावधान हर केन्द्रीय विश्वविद्यालय के कानून में होता है। इस प्रावधान के तहत सिर्फ काशी विश्वविद्यालय में दो बार विजिटोरियल जांच हुई है न्यायमूर्ति मुदालियर की अध्यक्षता में तथा न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर की अध्यक्षता में। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्ष रही माधुरी शाह की अध्यक्षता में सभी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों की जांच समिति गठित हुई थी। रोहित की मृत्यु के पश्चात एक व्यापक सन्दर्भ की जांच आवश्यक है। निर्भया कान्ड के बाद बने न्यायमूर्ति वर्मा की समयबद्ध कार्यवाही तथा बुनियादी सुधार के सुझावों से हमें सीख लेनी चाहिए तथा उच्च शिक्षा की बाबत उस प्रकार की जांच की जानी चाहिए। केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा घोषित जांच इस व्यापक उद्देश्य की दृष्टि से नाकाफी प्रतीत होती है।

अफलातून



बुढ़ाते एक्टविस्ट का युवा एक्टविस्ट रोहित को पत्र

प्रिय रोहित,

जब, देश भर के समूह तुम्हारी हत्या की जिम्मेदारी तय कर सज़ा की मांग कर रहे हैं, तब तुम्हारे पत्र के गूढ़ अर्थों को समझकर हमारा सरकारी तंत्र तुम्हारी मौत की जिम्मेदारी से अपना पल्ला पहले ही झाड़ चुका है। हालाँकि, हमारे प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी तुम्हारे जैसे होनहार छात्र को खोकर भावुक जरूर हो गए! तब, तुम्हारे पत्र के हर एक शब्द में मुझे अपना नाम नजर आया। और एक बुढ़ाता एक्टविस्ट होने के नाते तुम्हारे

जैसे उभरते एक्टविस्ट को खोने की जिम्मेदारी से मैं अपने आपको अलग नहीं कर सकता और इस भूल की कोई माफी नहीं हो सकती।

ऐसा लगता है – जैसे हम बूढ़े एक्टविस्ट भी थक से गए हैं। इसलिए मैं तुम्हारा समय पर साथ नहीं दे सका। अगर हम मिलते तो बदले में मुझे तुम्हारी युवा उर्जा से अपनी बढ़ती निराशा को दूर करने का एक मौका मिलता।

अपने पत्र की उन आखिरी दो लाईनों को आखिरी

समय में काटकर भले ही तुमने हमें बचाने का बडप्पन दिखाया है लेकिन वो अनकही दो लाईनें बहुत कुछ कह गईं। एक एक्टविस्ट होने के नाते मैं और मेरी पत्नी तुम्हारा पत्र पढ़ने के बाद से बैचैन हैं। क्योंकि इतिहास दोहराया गया है। एक बार फिर हम अपने-अपने मुद्दे लेकर बैठे रह गए तुम्हारे जैसे युवा तक नहीं पहुँच पाए। और तुम अपनी शहादत से तूफान मचाकर निकल गए। जैसे, उस समय सोए हुए देश को जगाने युवा भगत सिंह ने शहादत दी थी - और बूढ़े रह गए थे। फर्क इतना था कि उन्हें फांसी देने वाले हाथ विदेशी थे! और तुम्हें फांसी देने वाले हाथ देशी! अगर युवा ताकत इसी तरह शहीद होती रहेगी और बूढ़े देश चलाते रहेंगे, तो जिस मौलिकता और प्यार को तुम ढूँढ रहे थे वो कहाँ से आएगी? हमारी जाति, धर्म, पहचान और वोट की मान्यताएँ कैसे बदलेंगी? जवान जब चला जाएगा, तो बूढ़े तो फिर कब्र से पुरानी मान्यताओं के भूत इसी तरह पीढी-दर-पीढी ढोते रहेंगे।

एक समय था, जब यूनिवर्सिटी में तुम्हारे जैसे एक्टविस्ट युवाओं की बैचनी और उर्जा को एक वैचारिक आधार देना जन आंदोलनों के सीनियर एक्टविस्टों की जवाबदारी होती थी; इससे आंदोलनों को एक नई उर्जा मिलती थी। यही उसके सतत जारी रहने का जरिया था। तुम्हारी मौत में यह साफ रेखांकित है कि यह प्रक्रिया अब शिथिल हो गई है। यूनिवर्सिटी अब कैरियर का अड्डा बन गई है- और अब वैचारिक समूह भी इसमें सहारा दे अपनी मेम्बरी करते हैं। और बस अपनी अपनी स्थापित पार्टियों की लीक पर चलने के लिए सैनिक ढूँढते हैं।

हालाँकि, तुम्हारे पत्र से मुख्य-धारा का - छठवें के बाद सातवें वेतन आयोग का इंतजार करता थका-चुका हुआ यूनिवर्सिटी में बसने वाला बुद्धिजीवी समाज भी बैचैन है! क्योंकि तुमने तमिल, तेलगु की बजाए उनकी अपनी जवान - ऐसी तड़ाकेदार अंग्रेजी - में जो पत्र लिखा दिया। इससे यह स्थापित हो सका कि तुम वाकई एक स्कॉलर थे; जो दलित भी था। जिस समाज में आधे लोग पढ़ना-लिखना भी नहीं जानते। उस समाज से आने के बावजूद, तुमने इस सभ्य समाज को उसी के हथियार से संबोधित किया है। अगर तुम सिर्फ कुशल होते और पढ़े-लिखे 'होनहार' ना होते? सिर्फ दलित, छात्र, किसान या मजदूर होते? तो बहस क्या, कोई बात करने की जहमत भी नहीं करता। तुम्हारी माँ, तुम्हारे मौत के मुआवजे के लिए दर-दर की ठोकरे खाती रहती! जैसे, लाखों किसानों

और मजदूरों की शहादत पर पिछले दस सालों से इस देश में हो रहा है। छदम राष्ट्रवाद के उन्माद में ना जाने कब यह देश अपने ही पूर्व प्रधानमंत्री लालबहादूर शास्त्री का 'जय जवान- जय किसान' का नारा भुला बैठा है।

हालाँकि, यह लिखते दुख हो रहा है कि जैसा तुम कह गए - 'हमारी मौलिकताएँ कृत्रिम' है। वैसे ही, बुद्धिजीवियों का यह तूफान भी कृत्रिम है। क्योंकि, आजकल क्रांति सड़कों पर नहीं, बल्कि सोशल मीडिया और टी वी चैनल स्टूडियो की 'कृत्रिम-दुनिया' में होती है। जहाँ, उसके प्रगतिशील एंकर और बुद्धिजीवी उसमें अपनी लच्छेदार भाषा का तड़का लगाते हैं। और अब यूनिवर्सिटी की बहस भी बंद वातानाकूलित कमरे में किसी बड़ी फंडिंग से होती है - जहाँ कोई कार्यकर्ता नहीं; हर कोई खालिस 'पार्टिसिपेंट' या 'रिसोर्स-पर्सन' होता है। यूनिवर्सिटी की इस कृत्रिम दुनिया और उसकी बहस में दलित, आदिवासी, किसान और मजदूर की कोई वास्तविक भागीदारी नहीं होती। ज्यादा से ज्यादा वो या तो टारगेट समूह के प्रतिनिधि होते हैं या किसी कैटरिंग या सफाई एजेंसी के दैनिक वेतन भोगी कर्मचारी के रूप में वहाँ भोजन, सफाई आदि व्यवस्था में अपनी जवाबदारी निभा रहे होते हैं। यह बुद्धिजीवी प्रोफेसर तुम जैसे युवा एक्टविस्ट को प्रेरणा नहीं दे पाए, तुम्हारी निराशा देख नहीं पाए? इसलिए जवाबदारी उनकी भी बनती है।

और, मीडिया में बैठे उन मोटी तनख्वाह वाले, बुद्धिजीवी प्रगतिशील, एंकरों और अखबारों के संपादकों की भी जवाबदारी बनती है; जो ना जाने कब अखबार मालिक को संपादक मान बैठे और खुद एक लाएजनिंग ऑफिसर बनकर रह गए। जो अपनी तमाम सहानुभूतियों के बावजूद दलितों-आदिवासीयों और किसानों और मजदूरों से जुडी खबरों को 'नेगेटिव न्यूज़' कहने से नहीं रोक पाए। और जिनके लिए देश के आदिवासी इलाके में जारी सरकारी हिंसा एक कानून व्यवस्था का सवाल भर बनकर रह गई। इसलिए यहाँ सवाल हर उस दबे-कुचले वर्ग का है जिसका वजूद ही सवाल बन गया है जिसकी आत्मा व्यवस्था की चोट का दर्द सहते-सहते अपने शरीर से अलग हो गई और जो सिर्फ उस दर्द को सहने के लिए जिन्दा है। जिसके दर्द को शब्द देने का काम तुमने किया है।

अब यहाँ सवाल यह है कि क्यों तुम्हारे जैसी युवा उर्जा का उपयोग इस परीस्थिति के बदलाव में नहीं हो पाया?

असल में किसी देश में उस काल और समय में हुई देश-व्यापी राजनैतिक-सामाजिक उथल-पुथल ही उस समय के नौजवानों को बुनियादी-बदलाव के काम में खींचती है और एक वैचारिक आधार भी देती है। आजादी के आन्दोलन में इसी कारण इतने लाखों युवा कूदे – चाहे वो अहिंसक आंदोलन हो या हिंसक। आजादी आंदोलन के दौरान पैदा हुई इस उर्जा ने 60-70 के दशक तक युवाओं को प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप, जहाँ कुछ आंबेडकरवादी समूह उभरे वहीं साम्यवादी और समाजवादी राजनीति में उफान के साथ तेलंगाना और नक्सली आन्दोलन भी देश में उभरा। इसके बाद इमरजेंसी के दौरान जो उर्जा पैदा हुई उसने 90 के दशक तक हमारे जैसे अनेक युवा को अपना सब-कुछ छोड़ बुनियादी बदलाव के आन्दोलन में कूदने की प्रेरणा दी।

लेकिन, इस समय जब देश एक राजनैतिक उथल-पुथल के दौर से गुजर रहा है वहीं एक विचारहीन क्रांति की परिकल्पना तेजी से रखी जा रही है। ऐसा माहौल बन रहा है- जैसे आम्बेडकर; गांधी से लेकर भगतसिंह के विचारों के दिन लद गए। अब विचारहीन बदलाव की बात करने वाली पार्टी को मीडिया हाथों हाथ लेती है और वो तेजी से आगे आकर सत्ता के शीर्ष पर स्थापित भी हो जाती है। विचारधारा के आधार पर 'वैकल्पिक राजनीति लाने की बात करने वाले पार्टियाँ नेपथ्य में धकेल दी जाती है।

अब वो दौर चला गया – जब युवा अपना भविष्य दांव पर लगा देश बदलाव के काम में अपनी आहुति दे देते थे और शहरों में रहकर पैसा कमाने वाले पत्रकार, वकील, डॉक्टर आदि मित्रों के समूह यह उसे आर्थिक और हर तरह का सहयोग देना अपनी जवाबदारी मानते थे। जो आपके मुफ्त ईलाज, मुफ्त कानूनी सलाह, अखबारों में जगह से लेकर आर्थिक मदद और शहरों में रहने का ठौर भी देना अपनी कृतज्ञता मानते थे। लेकिन अब तो तीस साल के काम के बाद भी आप की कोई हैसियत नहीं होती है और यह सब दस-पन्द्रह सालों में वरिष्ठ हो जाते हैं। अब उनका सहयोग उनकी जवाबदारी और आपका हक नहीं होता है बल्कि उसके लिए आपको निवेदन करना होता है, उन्हें धन्यवाद देना होता है। अब उनका सहयोग एक प्रगतिशील व्यक्ति की दया होती है, समाजिक जवाबदारी नहीं। इससे कार्यकर्ताओं पर आर्थिक संकट आ गया और उत्साह भी गिरा है।

इसलिए तुम्हारी मौत की जवाबदारी इन सारे

प्रगतिशील व्यक्तियों की भी है जिनका सहयोग हटने से घर-परिवार के फेर में पड़, गाहे-बगाहे, ज्यादातर कार्यकर्ता कालान्तर में एन जी ओ के जाल में फंस गए या जनसंगठन के साथ आर्थिक सहयोग के लिए अपना एक एन जी ओ भी बनाना मजबूरी हो गया। एन जी ओ अच्छा काम तो करते हैं, मुद्दे के लिए लड़ते भी हैं – कई बार जेल भी जाते हैं। लेकिन व्यवस्था बदलने और वैचारिक बदलाव से उनका कोई सरोकार नहीं होता- हर बात उनके लिए सिर्फ एक फंडिंग एजेंसी का मुद्दा होती है।

जो जनसंगठनों के नाम पर बचे भी रहे, वे भी एक मुद्दा आधारित काम में फंस गए। कोई शिक्षा के निजीकरण के विरोध पर लगा है तो कोई उसमें सुधार में कोई विस्थापन के विरोध में लगा है तो कोई आदिवासियों के हक के लिए लगा है तो कोई दलित मुद्दे की बात कर रहा है, तो कोई महिला मुद्दे, तो कोई अल्पसंख्यकों के लिए लगा है। लेकिन इन सबके तार जिस व्यवस्था से जुड़े हैं, उसमें बुनियादी बदलाव के लिए एक देशव्यापी राजनैतिक एवं वैचारिक आंदोलन खड़ा करने के लिए कोई तैयार नहीं है। जो देश में एक नई व्यवस्था का खाका बना सके।

इसलिए तुम अपनी शहादत में देश में बुनियादी बदलाव की वैचारिक लड़ाई की बढ़ती नाकामी को उजागर करके चले गए। और अभी भी हम इस समय व्यवस्था को दोष देने और उसका रोना रोने में लगे हैं। व्यवस्था का तो काम ही है अपनी जवाबदारी से पल्ला झाड़ना। लेकिन हम अपने गिरेबान में तो झांके और अपनी जवाबदारी तय करें। अगर वाकई में तुम्हारी शहादत से हम बैचैन हैं, तो हमारे जैसे बुढ़ाते एक्टिविस्टों को तुम्हारी मौत की जवाबदारी लेकर साझा प्रयासों के जरिए एक देशव्यापी आंदोलन की दिशा में कदम बढ़ाना होगा। तुम्हारे जैसे सैंकड़ों युवाओं के दर्द और उर्जा को सहेज बदलाव के नए दौर की और बढ़ना होगा। जिससे और कोई रोहित को इस तरह शहादत ना देना पड़े। अगर ऐसी परीस्थिति बन भी जाए तो आधी से ज्यादा जिन्दगी देख चुके हम जैसे कार्यकर्ता उसके लिए तैयार रहे। यही तुम्हारी शहादत को सच्ची सलामी होगी।

पुनश्च: तुम तक पहले ना पहुँचने का दुख: हमेशा रहेगा।

एक नाकाम बुढ़ाता एक्टिविस्ट

अनुराग मोदी

राष्ट्रीय सचिव, समाजवादी जन परिषद

क्या मनुष्य पूर्ण रूप से तार्किक हो सकता है

सच्चिदानंद सिन्हा से सुनील और अखिला की बातचीत

सन् 2013 की 20 अगस्त को पुणे में महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन संगठन के नरेंद्र अच्युत डाभोलकर की हत्या कर दी गई थी। डाभोलकर अंधविश्वासों के खिलाफ लगातार आंदोलन करते रहे थे इसलिए उन लोगों के कोपभाजन बने, जिनकी दुकान ही अंधविश्वासों के सहारे चलती है। प्रायः इसी समय मुजफ्फरपुर में समाजवादी जन परिषद का एक शिविर चल रहा था। सुनील और अखिला ने अंधविश्वासों के बारे में सच्चिदानंद सिन्हा से उस वक्त जो बातचीत की, उसे एक साथी ने रेकार्ड कर लिया। वही बातचीत संपादित कर यहाँ छापी जा रही है।

सुनील : डाभोलकर की हत्या से अंधविश्वासों, बाबाओं और चमत्कारों के बारे में एक बहस चल पड़ी है। इसी बीच आशाराम बापू का मामला भी सामने आया। डाभोलकर तो यह कहते थे कि वह धर्म के खिलाफ नहीं हैं, धार्मिक अंधविश्वासों के खिलाफ हैं; बाबाओं का धर्म से कोई लेना-देना नहीं है। डाभोलकर से अलग हमारे देश में ऐसे लोगों की भी एक धारा है, जो अपने को तर्कवादी कहते हैं और धर्म का विरोध करते हैं। मेरे मन में यह प्रश्न उठता है कि चमत्कारों और अंधविश्वासों के खिलाफ हमने भी कभी-कभी बाहर से लोगों को बुलाकर व्याख्यान करवाए हैं, जिनमें वक्ताओं ने यह समझाने की कोशिश की कि जो चमत्कार लोग देखते हैं, वे कोई दैवी चमत्कार नहीं होते, हाथ की सफाई के खेल होते हैं। लेकिन चमत्कारों और अंधविश्वासों के खिलाफ आंदोलन फैल नहीं पाया है। इसकी लोगों के बीच पैठ नहीं है और न ही वह बनती दिखाई दे रही है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिकता के बढ़ने के साथ हमारे समय में लोगों में अंधविश्वास बढ़ रहा है। बाबाओं से शहरी लोग भी आकर्षित हो रहे हैं। इसका क्या कारण है? क्या चमत्कारों और अंधविश्वासों के खिलाफ चलाए गए आंदोलनों में सोच की कोई कमी है या और कोई कारण है? एक और सवाल मन में उठता है और वह यह है कि धर्म के प्रति और परंपराओं के प्रति हमारा क्या रवैया हो? एक तरफ कम्युनिस्ट धारा है, जो धर्म को पूरी तरह नकारती है। इधर दूसरी तरफ डॉ. धर्मपाल की, जो गांधीवादी हैं, धारा है जो परंपरा में कोई चीज गलत नहीं

देखती। धर्मपाल जी ने जो किताबें लिखी हैं उनमें उन्होंने बताया है कि जब अंग्रेज आए तब हमारी शिक्षा-व्यवस्था बहुत अच्छी थी। विज्ञान और टेक्नोलॉजी में हम पीछे नहीं थे। वह तो यह भी कहते हैं कि दलितों को भी उस समय बहुत अच्छी शिक्षा उपलब्ध थी। यह बहस का एक अलग मुद्दा है। कई बार वह (धर्मपाल) जाति-व्यवस्था का समर्थन करते हुए नजर आते हैं। गांधी के भीतर भी दो तरह की चीजें देखने को मिलती हैं। एक वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था का समर्थन करने लगे। तो गांधी के भीतर भी एक संघर्ष दिखाई देता है। अभी मैं भारत डोगरा का एक लेख पढ़ रहा था, जिसमें उन्होंने कहा है कि परंपरा से हमें जो लेना चाहिए था, वह हमने नहीं लिया और जो छोड़ना चाहिए था, उसे हमने जकड़ लिया। ऐसा क्यों हुआ? हमारे साथ यह एक विचित्र विसंगति और विडंबना क्यों हुई?

सच्चिदानंद सिन्हा : ऐसा नहीं है कि टेक्नोलॉजी और विज्ञान को कबूल करने से कोई आदमी अंधविश्वास से मुक्त हो जाता है। आधुनिक टेक्नोलॉजी वाले लोग भी अपना एक तरह का मिथक बनाते हैं। अभी अंतरिक्ष युद्ध, अंतरिक्ष यात्राओं और ग्रहों-उपग्रहों पर जाने की जो फिल्में बन रही हैं, वे भी एक तरह से चमत्कार में विश्वास दिलाती हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से जिन चीजों की संभावना नहीं दिखाई देती उस पर विश्वास करना भी तो एक प्रकार से चमत्कारों में विश्वास ही कहा जाएगा। अरब-खरब वर्ष दूर किसी ग्रह-उपग्रह पर पहुँचेंगे और वहाँ कुछ कर लेंगे, यह भी तो अंधविश्वास है। आदमी अपनी कल्पना के हिसाब से एक बहुत अच्छी दुनिया में जाने की बात सोचता है। इसके लिए उसे यदि जादू-टोने में विश्वास है तो उसे उसमें संभावना दिखाई देती है। इसी तरह जिसका विज्ञान में अंधविश्वास है, वह विज्ञान के रास्ते से वहाँ पहुँचने की बात करता है। आज जो बहुत पढ़े-लिखे लोग हैं वे टेक्नोलॉजी से नये-नये चमत्कार होने की उम्मीद करते हैं। यह भी एक अंधविश्वास है कि विज्ञान हमें कहाँ से कहाँ पहुँचा देगा। यदि हम संभावनाओं का सही तरह से आंकलन और परीक्षण करें तो पाएँगे कि हम जो कल्पना कर रहे हैं वह वास्तव में साकार नहीं होने वाली है। हमारे जो संसाधन हैं उनकी सीमाएँ हैं।

इनकी वजह से यह संभव नहीं है। लोग कौस्मोजोन की बात करते हैं कि अंतरिक्ष में दुनिया बनाकर वहाँ रहेंगे, यहाँ समस्या होगी तो वहाँ रहने लगेंगे। यह वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित नहीं है। जैसे जादू-टोना में अंधविश्वास करने वाले मानते हैं कि जादू-टोने से बहुत कुछ किया जा सकता है वैसे ही तकनीक में विश्वास करने वाले मानते हैं। इस तरह का विश्वास व्यक्ति को आश्वस्त करता है। आदमी एक ऐसी दुनिया की कल्पना करता है जिसमें उसे उन समस्याओं से मुक्ति मिल जाए, जो उसे झेलनी पड़ती है। वैज्ञानिक आधार पर ऐसी दुनिया में पहुँचने की संभावना नहीं होती तो वह अवैज्ञानिक ढंग से एक तरह के अंधविश्वास से उस दुनिया में पहुँचने की कल्पना करता है। आदमी के स्वभाव में कठिनाइयों से निकलकर काल्पनिक लोक में निवास करने का रुझान होता है जो जादू-टोने और वैज्ञानिक तिलस्म में उसके विश्वास में दिखाई देता है। यह सुविधा की तलाश है। अगर आप वास्तविक समस्याओं से जूझना नहीं चाहते, उनसे घबराते हैं तो आप एक काल्पनिक लोक बना लेते हैं, जिसमें आप राहत महसूस करते हैं।

सुनील : विज्ञान या टेक्नोलॉजी के माध्यम से आप अंधविश्वासों से मुक्त नहीं हो सकते, यह बात तो तर्कवादियों को पचेगी नहीं, क्योंकि वे तो यह मानते हैं कि विज्ञान ने हमें हर चीज की जाँच करना, उसके कारणों की खोज करना और कारण तथा उसके परिणाम के बीच में संबंध को देखना सिखाया है। जो विज्ञान के साथ पहले से ही विश्वास और मान्यताएँ चली आ रही थीं, उनके परीक्षण का सिलसिला शुरू हुआ, क्या विज्ञान की प्रगति के साथ समाज को ज्यादा तार्किक नहीं होना चाहिए?

सच्चिदानंद सिन्हा : ऐसा जरूरी नहीं है क्योंकि इच्छायुक्त सोच (विशुद्ध थिंकिंग) तो वैज्ञानिक चीजों के साथ भी जुड़ा हुआ है। तथ्यों के आधार पर हम जानते हैं कि यदि हमारी धरती समाप्त हो जाती है, पर्यावरण नष्ट हो जाता है तो अंतरिक्ष में जाकर हम एक वैकल्पिक दुनिया नहीं बना सकते। कई लोग यह कहते हैं कि यदि धरती पर बिजली का अभाव होगा तो अंतरिक्ष में हम बिजलीघर (पावरहाउस) बनाएँगे और धरती को ऊर्जा दे पाएँगे। मुझे इन सब बातों के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं मालूम पड़ता।

सुनील : हमारे समाज में चमत्कारों में विश्वास, अंधविश्वास और अंधभक्ति से मुक्त करना है तो उसका क्या तरीका हो सकता है?

सच्चिदानंद सिन्हा : प्राचीन समाज में भी एक धारा थी, जो अंधविश्वास से मुक्ति दिलाने की कोशिश करती थी। आज भी उस तरह की संभावना है। विज्ञान से जो ज्ञान हमें प्राप्त है उसके आधार पर हम बहुत सारी चीजों को बतला सकते हैं; अंधविश्वासों और अंधभक्ति के खिलाफ एक माहौल तैयार कर सकते हैं, लेकिन दूसरे नए अंधविश्वास पैदा नहीं होंगे, इसकी क्या गारंटी है? जैसे कम्युनिस्ट दुनिया की बात करें। सोवियत संघ में बहुत सारी ज्यादतियाँ हुईं; बहुत सारी चीजें ऐसी हुईं जो कम्युनिस्ट दुनिया की जो कल्पना थी, उसके बिलकुल विपरीत थीं। लेकिन जब तक सोवियत संघ का विघटन नहीं हुआ था तब तक यानी की दशकों तक आप यह मनवा नहीं सकते थे कि सोवियत संघ में सब कुछ ठीक नहीं है। यह कहा जाता था कि सोवियत संघ में सब कुछ ठीक न होने की बात अफवाह है, अमरीकी प्रचार है। जब सोवियत संघ का विघटन हो गया तो अफवाह और प्रचार वाली बात नहीं रही तो वहाँ की स्थिति के बारे में कह सकते थे। वह स्थिति क्या थी? जो लोग द्रंढात्मक भौतिकवाद और वैज्ञानिक सोच की बात करते हैं वे सोवियत संघ में जो हो रहा था उसे कबूल करने को क्यों नहीं तैयार थे? इसकी वजह क्या थी? हर आदमी में एक रुमानियत (रुमानी खयालात) होती है, जो हकीकत से अलग एक ऐसी दुनिया बनाना चाहती है जो उसकी सुविधा के हिसाब से हो। अगर वास्तव में यह नहीं होती तो कल्पना में उसे खंगालते हैं। सोवियत संघ बहुत भ्रष्ट हो गया था, इसके बावजूद कल्पना का जो सोवियत संघ था, वह बरकरार रहा, उसे सब मानते रहे। आदमी बहुत तरह की परेशानियों से बचने की कोशिश करता है। यह सही है कि कुछ जरूरी कामों के लिए वह बहुत तरह के कष्ट उठा लेता है लेकिन ऐसा नहीं है कि वह हर समय परिस्थितियों से लड़ता रहे, झगड़ता रहे। एक-दो आदमी ऐसा कर सकते हैं पर ज्यादातर लोग चाहते हैं कि एक छोटे दायरे में, जहाँ उन्हें रोज काम करना है उसके बाहर उन्हें ऐसी जगह मिले जहाँ एक तरह का आश्रय हो कि वे बहुत सारी कठिनाइयों से बच जाएँ।

सुनील : हर धर्म में कर्मकांड हावी होता जाता है। मूल भावना गायब हो जाती है। आलोचकों का कहना है कि चूँकि आप तर्क का इस्तेमाल नहीं करते, श्रद्धा का करते हैं जो धीरे-धीरे अंधश्रद्धा में बदल जाती है।

सच्चिदानंद सिन्हा : सब चीजें तर्क से नहीं हो सकतीं। आप मानते हैं गरीबी मिटनी चाहिए लेकिन आप

यह भी तो मान सकते हैं कि जो सशक्त लोग हैं उन्हें दुनिया के ऊपर शासन करने का अधिकार है। यह जो मान्यता है उसका क्या आधार है? यदि आप मानते हैं कि दुनिया से गैरबराबरी खत्म होनी चाहिए तो वह भी तो एक श्रद्धा या एक विश्वास की बात है। एक मूल्य है। इस मूल्य के इर्द-गिर्द एक विशेष तरह की धार्मिक परंपरा रही है पर दूसरा मूल्य बोध भी तो हो सकता है, जो मानता हो कि इस सबकी जरूरत नहीं है। जर्मनी में बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ नीत्शे। उसने यही कहा कि आज के विज्ञान के आधार पर ईश्वर खत्म हो गया है। विश्व को एक डोरी में बाँधे रखनेवाली कोई चीज नहीं है। ऐसी स्थिति में आदमी को उसकी जगह पर अपने को लाना होगा। वह कहता है ईश्वर खत्म हो गया है तो ईश्वर के सिंहासन पर मनुष्य को जाकर कब्जा जमाना चाहिए तभी यह दुनिया चल पाएगी।

सुनील : भारत की बात करें। किसी भी देश में जो परंपराएँ चल रही हैं उन पर सवाल उठाने चाहिए। समाज में प्रक्रिया चलती रहती है। 1947 के पहले सौ सालों में हमारे यहाँ एक ऐसी प्रक्रिया चली आजादी के आंदोलनों के दौरान जिसमें हमारे रीति-रिवाजों के ऊपर, धर्म के ऊपर, कुरीतियों के ऊपर एक बहस चली। बहुत सारे आंदोलन चले, सवाल उठे, जो शायद पश्चिम के साथ जो हमारा टकराव हुआ उसका नतीजा था। इसको आप पश्चिम का प्रभाव कह सकते हैं, अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव कह सकते हैं या दो सभ्यताओं के आपस में संपर्क में आने का नतीजा कह सकते हैं। लेकिन 1947 के बाद जब देश आजाद हो गया तो यह प्रक्रिया ज्यादा चलती हुई नहीं दिखाई देती है। यानी जितने समाज सुधारक या धार्मिक सुधार 1947 के पहले दिखाई देते हैं, 1947 के बाद नहीं दिखाई देते। ये तो उल्टा हो गया। जब हम गुलाम नहीं थे तब कई चीजों को सुधारने और बदलने के बारे में सोच रहे थे और जब हम आजाद हो गए तो वह प्रक्रिया कमजोर पड़ गई।

सच्चिदानंद सिन्हा : ऐसा तो कुछ नहीं हुआ। यह हुआ कि ज्यादा बड़ा और प्रभावशाली तबका समाज के आधुनिक विकास की संभावनाएँ तलाशने में जुट गया और सोचने लगा कि आधुनिक विकास से अंधविश्वास अपने आप खत्म हो जाएँगे। इससे समाज सुधारक लोग हाशिये पर चले गए। दो धाराएँ चलीं। एक तथाकथित आधुनिक लोगों की धारा, विज्ञान में विश्वास करने वालों की, जो डाक्टरों के पास इलाज के लिए जाते हैं। गाँव में रहने वाला दूसरा बड़ा गरीब तबका जिसकी पहुँच वहाँ तक नहीं है, जो

मुख्य धारा के बुद्धिवादी साम्राज्य से बाहर था वह बाबाओं, झाड़-फूँक और अंधविश्वासों में लिप्त रहा। शक्तिशाली तबके में अलग तरह के अंधविश्वास व्याप्त है, जैसे कि अंग्रेजी के माध्यम से आप बहुत तरक्की कर सकते हैं। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। एक भाषा में आप उतने ही सक्षम-अक्षम होते हैं जितने किसी दूसरी भाषा में। आमतौर पर हिंदुस्तान में हर पढ़ा-लिखा व्यक्ति सोचता है कि अंगरेजी के माध्यम से आप बहुत ज्ञान अर्जित कर सकते हैं, यह विशुद्ध रूप से एक अंधविश्वास है।

अखिला : पहले बास्वन्ना, अक्कामहादेवी, फुले, पेरियार जैसे समाज सुधारक आए। उस समय उन्होंने कहा कि सबसे ऊपर हमारी चेतना है। तब कई लोगों ने उनकी बातों को माना भी। पर आज उनका ज्ञान, उनकी बात हाशिए पर चली गई। ऐसा क्यों हुआ?

सच्चिदानंद सिन्हा : मनुष्य को जीने के लिए तार्किकता (लॉजिक) चाहिए। उसके बिना वह जिंदा नहीं रह सकता है। अंधविश्वासी व्यक्ति की भी अपनी एक तार्किकता होती है। हल चलानेवाला व्यक्ति जानता है कि सूरज कब उगेगा, हल चलाने कब जाना है। लेकिन सारी चीजों को आप अपने तर्क के आधार पर समझ नहीं सकते। जो चीजें हमारी जानकारी के बाहर की होती हैं उनके बारे में या तो यह धारणा बना लेते हैं कि इसके बारे में कुछ सोचना नहीं है या किसी कल्पना-लोक का निर्माण कर लेते हैं, जो आपके ज्ञान और सोच के दायरे के बाहर है। ज्यादातर पारंपरिक समाज में यह होता है कि सारी चीजों का लोग आसानी से दो भागों में बँटवारा कर लेते हैं। एक क्षेत्र तर्क के आधार पर और दूसरा क्षेत्र विश्वास के आधार पर। हर कहीं व्यक्ति पूर्णतया तार्किक तो हो ही नहीं सकता। उदाहरण के लिए परिवार के साथ आपका रिश्ता हमेशा तर्क के आधार पर सोचे तो उसे समझ में आएगा कि वह गलत कर रहा है पर परिस्थितियों और भावनाओं के आवेश में आकर वह इस तरह की हरकतें कर बैठता है।

सुनील : पति अगर पत्नी को पीटता है तो वह भावनाओं का मामला तो है या दबी हुई पुरुषसत्तात्मक भावना और हिंसा की भावना का मामला है।

सच्चिदानंद सिन्हा : पुरुष सत्तात्मक भावना का मामला तो है पर भावना का भी मामला है। महिलाएँ पुरुषों से ज्यादा सक्षम होती हैं। इसलिए बच्चों को बड़ा करती हैं, उन्हें सुरक्षा देती हैं। उसके लिए ज्यादा ज्ञान, बुद्धि और क्षमता की जरूरत होती है। पुरुष सिर्फ शारीरिक रूप से

ज्यादा सक्षम होते हैं। उनके अंदर एक हीनता की भी भावना होती है। कई बार अपनी इस हीनता की भावना को दूर करने के लिए भी वे महिलाओं पर हमला करते हैं। दूसरा कोई बच्चा आपके बच्चे के सामने आता है तो तर्क के आधार पर आपको दूसरे बच्चे को भी अपने बच्चे की तरह देखना चाहिए पर ऐसा तो होता नहीं। आप अपने बच्चे को हमेशा अलग तरह से देखते हैं। मनुष्य की ज्यादातर क्रियाएँ या गतिविधियाँ भावनाओं पर ही आधारित होती हैं।

सुनील : पर इनके भी अपने तर्क या मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ हो सकती हैं?

सच्चिदानंद सिन्हा : हाँ हो तो सकती है। पर जैसे कि हम समाजवादी जन परिषद में हैं इसका कोई तार्किक कारण आप नहीं दे पाएँगे। अन्य मुख्यधारा की पार्टियाँ जैसे कांग्रेस को छोड़कर आप यहाँ क्यों है? यदि तार्किक रूप से देखें तो इन पार्टियों में ज्यादा फायदे हैं, अच्छी जगह मिल सकती है, अच्छी नौकरी मिल सकती है, आदि। लेकिन एक मूल्य आपके भीतर है कि लोगों के बीच में समानता होनी चाहिए, उनके कष्ट का निवारण होना चाहिए, यह एक भावना की बात है। आप यह भी सोच सकते हैं कि लोग मर रहे हैं उनको मरने दो, हमको क्या लेना-देना है। आदमी अपनी गतिविधियों में तार्किक न होकर अकसर भावुक होता है। व्यक्ति के जीवन का, उसकी गतिविधियों का बहुत बड़ा सा भाग तर्क आधारित होता है।

सुनील : आपका कहना यह है कि तार्किकता की एक सीमा होती है (रेशनलटी एक लिमिटेशन है।)

सच्चिदानंद सिन्हा : तार्किकता की जरूरत तो है जीवन में कुछ हद तक। जैसे, आप सड़क पर जा रहे हैं तो नाली में पाँव डालने के बजाए आप सड़क पर पैर रखते हैं तो आपकी तर्क बुद्धि आपको ऐसा करने के लिए कहती है। पर आप कौन सी सड़क से जाएँगे, या अपने दोस्त से मिलने या उसके घर जाने का निर्णय आपकी भावनाओं से निर्धारित होता है।

अखिला : धर्म के नाम पर बहुत शोषण हो रहा है। यज्ञ और पूजा एक अकेले व्यक्ति की समस्याओं को भी दूर कर सकते हैं क्या? यह जानते हुए भी कि इससे कुछ हो नहीं सकता लोग पूजा, भगवान और अंधविश्वासों के पीछे क्यों भाग रहे हैं?

सच्चिदानंद सिन्हा : जहाँ व्यक्ति को लगता है कि वह वास्तविकता में कुछ नहीं कर सकता है वहाँ वह काल्पनिक रूप से कुछ कर सकता है, इसकी कल्पना करने

लगता है। हमारे गाँव में आज भी बारिश नहीं होने पर सामूहिक रूप से चंदा इकट्ठा करके बारिश के लिए कार्यक्रम करते हैं। यह इच्छाजनित सोच है कि ऐसा करने से बारिश हो जाएगी। भावनाएँ, इच्छाजनित सोच; ये सब मनुष्य के जीवन के अंग हैं।

सुनील : तो आपके कहने का मतलब है ये चीजें हमेशा मनुष्य के जीवन में रहेंगी? जैसा आपने कहा कि जहाँ मनुष्य की जानकारी नहीं होती है वहाँ वह कल्पना से गढ़ लेता है। तो क्या शिक्षा के प्रसार होने पर लोगों को ज्यादा जानकारी मिलेगी तो यह उम्मीद की जा सकती है कि ऐसी चीजें नहीं होंगी?

सच्चिदानंद सिन्हा : जितना साहित्य है— कविता, कहानी, उपन्यास, चित्रकला ये सब तो कल्पना ही है।

सुनील : लेकिन वे अंधविश्वास नहीं हैं।

सच्चिदानंद सिन्हा : हाँ, पर एक काल्पनिक दुनिया तो है। तार्किकता बहुत महत्वपूर्ण है, आज नहीं आज से 5 लाख साल पहले भी थी। उसके बगैर मनुष्य का अस्तित्व संभव नहीं है। जो शिकार करने वाला आदमी था वह भी माप (कैलकुलेट) करके निशाना लगाता था। किंतु आदमी की जिंदगी का बहुत बड़ा हिस्सा भावनाओं से निर्धारित होता है। आदमी अपने परिवार पड़ोसियों, दोस्तों के प्रति भावनाओं से संचालित होता है। कुछ तो व्यक्ति की अंतर्निहित (इनबिल्ट) प्रतिक्रियाएँ होती हैं। आचार विज्ञानी मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करते हैं वे बताते हैं कि कैसे मनुष्य अपने आस-पास के लोगों के साथ अपने को जोड़ता है। डेसमंड मारिस ने अपनी किताब 'द ह्यूमन जू' में ट्राइब और सुपरट्राइब की बात की है। दस लाख लोगों के एक शहर में एक व्यक्ति सारे लोगों के साथ एक तरह से भावनात्मक संबंध नहीं बना सकता है और रोचक बात यह है कि इतने बड़े शहर में भी हर आदमी का असल में व्यक्तिगत संबंधों और बातचीत का जो दायरा होता है वह 40-50 लोगों तक ही सीमित होता है, जो एक आदिवासी समाज या गाँव का दायरा होता है। आदमी को जिंदा रहने के लिए भावनात्मक सहारे की जरूरत है साथ ही इस सहारे की सीमाएँ भी हैं, जिनके भीतर ही वह जिंदगी जीता है। समय के बदलने, सोच और सभ्यता के बदलाव के बावजूद ये मूलभूत बात एक ही रही है मानव समाज में। पूर्ण रूप से तार्किक शायद ही कोई व्यक्ति होगा। मूल रूप से भावनाओं से संचालित व्यक्ति सही मार्ग पर भी जा सकता है और

गलत मार्ग पर भी जा सकता है। गांधी जैसा कोई करुणावाला पुरुष भी हो सकता है और हिटलर जैसा क्रूर भी हो सकता है। ये हमारे लिए आवश्यक है कि हम ऐसा समाज बनाएँ कि भावनाएँ गलत रास्ते की ओर न जाएँ बल्कि मानवता की राह की ओर जाएँ। बिल्कुल वैज्ञानिक दुनिया बनाने की बात बेमानी है।

अखिला : तो अंधविश्वास भी मनुष्य की भावनाओं का हिस्सा है?

सच्चिदानंद सिन्हा : हाँ बिल्कुल। इस पर निर्भर करता है आप किस दिशा में अपनी भावनाओं के सहारे जाते हैं? भावनाओं को ऐसा परिवेश मिलना चाहिए कि वे सकारात्मक दिशा में जाने के लिए लोगों को प्रेरित करें।

अखिला : क्या विज्ञान की शिक्षा से, ज्ञान को फैलाने से अंधविश्वासों से परे जाया जा सकता है?

सच्चिदानंद सिन्हा : सिर्फ विज्ञान के ज्ञान और प्रशिक्षण से आप मनुष्य के व्यवहार को बदल नहीं सकते। एक रोचक बात यह है कि आइन्सटाइन एक समाजवादी भी था, उसने समाजवाद पर भी लिखा है। वह बहुत बड़ा गणितज्ञ और भौतिक विज्ञानी था, यदि उसे पूर्ण रूप से तार्किक व्यक्ति माना जाए तो उसे समाजवादी होने की क्या जरूरत थी? समाज के बारे में भी वह एक तार्किक सैद्धांतिक विश्लेषण दे सकता था। समाजवाद तो एक भावनात्मक चीज है।

सुनील : मार्क्स तो कहते थे कि उनका समाजवाद वैज्ञानिक समाजवाद है?

सच्चिदानंद सिन्हा : वैज्ञानिक समाजवाद की बात निरर्थक है। वैज्ञानिक समाजवाद का जो प्रयोग सोवियत संघ में हुआ वह बहुत ही भयावह था। आइन्सटाइन महान वैज्ञानिक होने के बावजूद समाजवादी थे क्योंकि इस दुनिया के लोग कैसे रह रहे हैं इसके प्रति उनकी मानवीय चिंता थी। सिर्फ विज्ञान के विकास से समाज और लोगों की समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं, यह वह समझते थे। लीग आफ नेशंस ने आइन्सटाइन को यह कहा था कि जो भी आपका पसंदीदा व्यक्ति हो उससे इन दुनिया में शांति और मानव जीवन की उन्नति के बारे में सवाल करें तो उन्होंने फ्रायड से सवाल किए थे और फ्रायड ने जवाब दिए थे कि कैसे मनुष्य की भावनाओं को समझा और संभाला जा सकता है। तो विज्ञान और कला या तर्क और भावनाएँ दोनों अलग क्षेत्र हैं। दोनों ही मनुष्य के जीवन में आवश्यक हैं। तर्क के बगैर आप जीवित नहीं रह सकते। पर भावनाओं के

बगैर तो आपका जीवन पत्थर के समान हो जाएगा, आप मशीन बन जाएँगे। इसी तरह से विज्ञानवाद के कारण सोवियत संघ का दैत्याकार मशीन बन गया था। इसमें एक बहुत रोचक बात है जो, एक पुराने कम्युनिस्ट समर्थक रह चुके लेखक मैक्सईस्टमैन ने अपनी किताब 'आर्टिस्ट इन यूनिफॉर्म' में लिखी है। एक बार कम्युनिस्ट कलाकारों का सम्मेलन हुआ था, जिसमें सोवियत संघ के भविष्य के बारे में चर्चा करते हुए यह कहा जा रहा था कि कैसे सब कुछ विज्ञान आधारित और उत्तम (परफेक्ट) होगा। तब किसी कलाकार ने पूछ लिया कि मान लीजिए कि रास्ता पार करते हुए किसी बच्चे की एक कार से टक्कर हो जाए और उसकी मौत हो जाए तो इस घटना को आदर्श समाज की तस्वीर में कैसे फिट किया जायेगा। तब उसे जवाब मिला कि सोवियत संघ के कम्युनिस्ट शासन में ट्रैफिक के नियम इतने सख्त और अच्छे होंगे कि सड़क दुर्घटना होगी ही नहीं। ये ही उनके वैज्ञानिक सिद्धांतों का दोष या भ्रम (फेलेसी) था कि सारी चीजों को आप बिल्कुल आदर्श तार्किक ढंग से कर सकते हैं। यह समझदारी होनी चाहिए कि तर्क और भावनाएँ दोनों ही मनुष्य जीवन के आवश्यक तत्व हैं।

सुनील : गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर में एक बहस चली थी। 1934 में बिहार में भूकंप आया था तो गांधी ने कहा था कि हरिजनों के साथ जो लोग व्यवहार कर रहे थे अस्पृश्यता और दमन का उसके कारण भूकंप आया है। तो रवीन्द्रनाथ तुरंत इसका प्रतिवाद किया था और कहा था कि आप अवैज्ञानिक बात करके लोगों में अंधविश्वास फैला रहे हैं। उस पर आपका क्या कहना है?

सच्चिदानंद सिन्हा : गांधी ने जो बात कही वह तो गलत ही थी। पर शायद अंधविश्वासी लोगों को कुछ अच्छी दिशा देने के लिए यह बात उन्होंने कह दी थी, ऐसी बात कहने से लोग हरिजनों के प्रति जो उनकी दृष्टि है उसको बदलेंगे। बात तो उनकी बिल्कुल अंधविश्वास की ही थी जो नहीं होनी चाहिए। ऐसे देखें तो जगह-जगह पर गांधी कुछ बातें ऐसी कहते रहते हैं जिनका कोई तार्किक आधार नहीं है।

सुनील : तो आप कह रहे हैं गांधी की कई बातों का तार्किक आधार नहीं था?

सच्चिदानंद सिन्हा : वह आदमी ही थे कोई रोबोट नहीं।

कागज तुम्हारा जमीन हमारी

डॉ. ब्रह्मदेव शर्मा

वंचितों के हित में लगातार संघर्षरत आदर्श पुरुष डॉ. बी.डी. शर्मा का विगत 6 दिसंबर को देहावसान हो गया। जनसंघर्षों, जनांदोलनों एवं लोकहित में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत क्षति है। उन्होंने आदिवासियों, किसानों एवं कामगारों की दशा सुधारने के लिए असाधारण कार्य किया। उनका सरल, सहज व मितव्ययी जीवन हम सबके लिए एक पाठशाला है। प्रस्तुत आलेख मई-1997 में साकेगांव (जिला जलगांव, महाराष्ट्र) में 34 वें अ. भा. सर्वोदय समाज सम्मेलन में दिए गए उद्घाटन उद्बोधन का संपादित स्वरूप है। जिसे श्री कामेश्वर बहुगुणा ने तैयार किया था।

अब मौका आया है कि हम सोचें कि हमें कैसा देश बनाना है। यहां हम दो पीढ़ियों के साथ मिल रहे हैं। हम नयी पीढ़ी को गर्व के साथ कुछ भी देने में असमर्थ हैं। तो सोचें गलती कहां हुई। पहली बात यह है कि आजादी राजधानियों के शहरों में फंस गयी है। वहां हमारी शक्ति में लोग बैठ गए तो हमने समझा कि स्वराज्य आ गया। पर यह भूल है। आजादी के बाद भी देश में साम्राज्यवादी व्यवस्था को ही मजबूत किया गया है। यह व्यवस्था आम आदमी खासकर ग्रामीण के, हित व सम्मान के विरुद्ध है। इसने आदमी को “अनागरिक” बना दिया है।

संविधान की 40 वीं धारा में पंचायतें केवल “हुक्म” का पालन कर सकती है, “हुक्म” दे नहीं सकती। खुद “पंचायत” शब्द से भ्रम होगा। विधान में “ग्राम पंचायत” नहीं “पंचायत” शब्द है जो बंद कमरे में बात - काम करती है। सारी व्यवस्था कमरे में बंद है। हमारा देश आउटडोर सभ्यता वाला है, खुला समाज है, इसे बंद समाज में बदल दिया गया है। यह सारा पुरानी व्यवस्था का दस्तावेज है। यह पहला धोखा हुआ कि असली मालिक ठगा गया है। समाज तो स्वयंभू है, प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण स्वयं में “अन्तविरोधी प्रत्यय” है। पर इसमें हमें प्रदत्त अधिकारों से ठगा जा रहा है। स्वयंभू व्यवस्था प्रदत्त अधिकारों से नहीं चलती। यह बंद भीतरी व्यवस्था उस कुत्ते की तरह है जो समझता है कि मैं ही समूची गाड़ी चला रहा हूं। इसका आरंभ सत्ता का, लूट का बंटवारा मात्र है। इस बंटवारे को ही न्याय कहा जाता है। दुनिया का सबसे बड़ा लुटेरा क्लाइव “लार्ड” बना दिया गया था। हमारे भारतरत्नों में भी लुटेरे हैं। हमने इस व्यवस्था को मान लिया, इससे उत्पन्न

आक्रोश को तोड़ने का काम किया, यह भारी भूल हुई है। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हित में खेती “हानि” का धंधा बना दिया गया है। भारत के परम्परागत धंधेवाले “अकुशल” बना दिए गए हैं। काम करने वाले को “बिचैलियों” के हवाले कर दिया गया है। इन मान्यताओं को कोई चुनौती नहीं दे रहा है। हमारे विश्वविद्यालय हमें “अमरीकी दृष्टि” दे रहे हैं उन्हें भारत का कोई ज्ञान नहीं है। वे गुलामी की ही शिक्षा दे रहे हैं। “समर्थ ही जी सकता है” इस दासता के मूल्य का प्रसार करते हैं।

एक बड़ी भूल यह भी हुई कि पहले तो विकास हो जाए, “सामाजिक न्याय” बाद को आएगा। यह गलत मान्यता व तर्क है। और विकास फल के बंटवारे पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। आज गांव व शहर का अंतर 12 गुना हो गया है। नयी तकनीकी इसी काम में लगी है। यहां तक कि सौ रुपये के नोट पर टैडक्टर छपा गया। तब गाय को कहां स्थान है। जमीन को “संपत्ति” मानकर खरीद बिक्री की वस्तु बना दिया गया है। फिर हमने पश्चिमी विकास को मान लिया। पर यह पश्चिमी विकास यूरोप-अफ्रीका व भारत आदि में नृशंसों व हुनरों के विनाश पर टिका है। इसको देश की संपत्ति पर कुछ लोगों को कब्जा दिलाने का माध्यम बना दिया गया है। इससे या तो पर्यावरण समाप्त होगा या फिर हम मानव रूप में नष्ट हो जाएंगे। अब यह मानस बनाया जा रहा है कि गरीबों को गले की हड्डी कब तक रखा जाएगा ? याने उन्हें समूल नष्ट करना होगा। नागरिक समानता खत्म होकर देश बंट गया है। रेल में, अस्पताल में, स्कूल में गरीब का स्थान खत्म हो गया। अब वैश्यों का स्थान सम्मान का बना दिया जा रहा

है। “यौन - उद्योग” पर्यटन आदि के द्वारा बढ़ाया जा रहा है। परिवार टूट रहे हैं, जननी बनना हेय माना जा रहा है।

अतः अब सोचो हम स्वार्थवश ही यह सब सहन कर रहे हैं। अनुदानों के चक्कर में सम्मान खो रहे हैं। अनुदान भीख व भिक्षा से भी हेय है। हमारी संसद कंगालों की बस्ती बन गयी है। वह विदेशी भीख (कर्ज) मिलने पर तालियाँ पीटते हैं। अब मात्र आम आदमी ही एकमात्र आशा रह गयी है। भारत का गरीब, गरीब नहीं “शोषित” है। किसी को अकुशल व हेय मानना व कहना छोड़ दें। इस शोषक व्यवस्था को नकार दें। गांधीवाद को “आदर्शवाद” के ठप्पे से मुक्त करो। गांधीजी आदर्शवादी नहीं, “व्यवहारवादी” थे। किसान गरीब क्यों है, शोषित क्यों हैं ? यह बताएं। आम आदमी को सारी व्यवस्था अपने हाथ में ले लेनी होगी। सरकार “नाई” की तरह संदेशवाहक मात्र है पर वह “ठाकुर” बन गयी है। जमीन व समाज के अधिकार अब सरकारी कागजों के आधार पर तय नहीं होंगे। अतः कागज

तुम्हारा जमीन हमारी का नारा देना होगा। अब वक्त आ गया है कि देश को दिल्ली-मुम्बई के आदेशों पर ही न छोड़ दें।

आदिवासी क्षेत्रों में कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं। स्वशासन का केन्द्रीय कानून गांधी की राह की ओर एक कदम है। हमें ‘गांव गणराज्य’ की स्थापना करनी है। इसके लिए गैर आदिवासी क्षेत्रों में विशेष व्यवस्था करनी होगी। वहां व्यवस्था कुछ के लिए (दलितभाई के लिए) एकता की भी प्रतीक है। अतः समाज को एक करना, इकट्ठा करना पहला काम है। इसमें शराब आदि बाधक हैं, वैसे भी ये पूंजीवादी अस्त्र हैं। चीन का युद्ध अफीम के लिए हुआ था। शराब की लड़ाई ग्रामस्वराज्य की पहली लड़ाई है। शराब का नियंत्रण सरकार नहीं कर सकती। यह काम केवल राज्य के भरोसे पर नहीं छोड़ा जा सकता। हमें गांधीवादी रीति से समाज विरोधी कानूनों को तोड़ना होगा। इसकी शुरुआत हो गयी है। सब साथ होकर चलें तो जल्दी होगा। यहां से बगावत का संदेश लेकर जाएं। (सप्रेस)

प्रगतिशील लेखक डॉ. रणजीत की उपलब्ध पुस्तकें

1. आजादी के परवाने – भारतीय स्वतंत्रता संग्रामों के 287 शहीदों के प्रामाणिक इतिवृत्त। दो खण्ड, पृष्ठ 560, मूल्य आठ सौ रुपये।
2. हिन्दी की प्रगतिशील कविता (शोध) पृष्ठ 312, मूल्य तीन सौ।
3. हिन्दी के प्रगतिशील और समकालीन कवि (समीक्षा) पृष्ठ 328, मूल्य 400.00
4. ये बस्ती है बटमारों की (कविता संग्रह) पृष्ठ 96 मूल्य 200.00
5. इतना पवित्र शब्द (प्रेम कविताएँ) पृष्ठ 76, मूल्य 60 रुपये
6. खतरे के कगार तक (कविता संग्रह) पृष्ठ 82, मूल्य 80 रुपये
7. अभिशप्त आग (कविता संग्रह) पृष्ठ 132, मूल्य 100 रुपये
8. प्रतिनिधि कविताएँ (कविता संग्रह) पृष्ठ 166, मूल्य 200 रुपये
9. प्रगतिशील कविता के मील पत्थर (संपादित कविताएँ), पृष्ठ 324, मूल्य 200 रुपये
10. धर्म और बर्बरता (संपादित आलेख) पृष्ठ 142, मूल्य 150 रुपये
11. साम्प्रदायिकता का जहर (संपादित आलेख) पृष्ठ 244 मूल्य 250 रुपये
12. जाति का जंजाल (संपादित आलेख) पृष्ठ 242 मूल्य 250 रुपये
13. भारत के प्रख्यात नास्तिक (संपादित जीवन वृत्त) पृष्ठ 540 मूल्य 400
14. डॉ. रणजीत : व्यक्तित्व और कवित्व (डॉ. कला मुंजे का शोध प्रबन्ध) पृष्ठ 176, मूल्य 200 रुपये

ये पुस्तकें तीस प्रतिशत कटौती के साथ मँगवाई जा सकती हैं।

संपर्क : 09019303518

नवउदारवादी अर्थव्यवस्था में विषमता की चौड़ी होती खाई

अरुण कुमार त्रिपाठी

(गतांक से आगे)

थामस पिकेटी 'कैपिटल इन ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी' में इस बढ़ती असमानता को दो श्रेणियों में बांटकर देखते हैं। एक श्रेणी है बढ़ती हुई आय की और दूसरी श्रेणी है बढ़ती हुई संपत्ति की। इसे वे यू (U) आकार के कर्व के नियम विश्लेषित करते हैं। इस यू कर्व में एक निश्चित समय के लिए असमानता पहले घटती है और बाद में बढ़ती है। आय की असमानता के बारे में वे अमेरिकी अध्ययन का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि 1910 और 1920 के दशक में राष्ट्रीय आय में देश की ऊपरी दस प्रतिशत आबादी का हिस्सा 45-50 प्रतिशत के बीच था जो 1950 के दशक तक घटकर 35 प्रतिशत रह गया। 1970 के दशक तक वह इसी के आसपास रहता है और उसके बाद 2000-2010 के दशक तक बढ़कर फिर 45 से 50 प्रतिशत तक पहुंच जाता है।

उसके बाद वे संपत्ति के मामले में भिन्नता के मौलिक नियम का विवेचन करते हुए तह के सूत्र से अपनी बात समझाते हैं। यहां त का तात्पर्य पूंजी से होने वाली औसत सालाना प्राप्तियों से और ह का तात्पर्य अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर यानी आय या उत्पाद से है। पूंजी पर होने वाली प्राप्तियों में मुनाफा, लाभांश, ब्याज, किराया और दूसरी आय। अर्थशास्त्रियों का कहना है कि अगर पूंजी पर होने वाली प्राप्तियां लंबे समय तक वृद्धि दर से काफी ऊपर रहती हैं तो संपत्ति के वितरण में भिन्नता रहने के खतरे ज्यादा होते हैं। इस अध्ययन में त और ह का अनुपात 400 प्रतिशत से 700 तक बढ़ते दिखाया गया है। यह अनुपात 1910 से 1930 तक घटता है और 1950 से 1970 तक धीरे-धीरे उठता है। उस समय यह 200 से 300 प्रतिशत के बीच रहता है और 1990 से 2010 के बीच तेजी से उठकर 600 से 700 प्रतिशत तक पहुंच जाता है।

पिकेटी का कहना है कि अगर यू कर्व का नियम

इसी प्रकार चलता रहा तो सन 2100 तक पूरी दुनिया पर पूंजी का वही प्रभाव होगा जो बीसवीं सदी के अंत में यूरोप पर था।

दुनिया में कितनी तेजी से अमीरों की संख्या बढ़ी है फोर्ब्स की सूची के आधार पर इसके चैंकाने वाले प्रमाण इस प्रकार हैं।

1987 तक दुनिया में 140 अरबपति थे और 2013 तक उनकी संख्या 1400 हो गई।

सन 1987 तक अरबपतियों के पास सिर्फ 0.4 प्रतिशत वैश्विक निजी संपत्ति थी लेकिन 2013 तक वह 1.5 प्रतिशत हो गई।

दुनिया के कुल 4.5 अरब लोगों में से 0.1 प्रतिशत संपन्नतम लोगों की तादाद 45 लाख है। उनके पास औसतन एक करोड़ यूरो की संपत्ति है जो कि वैश्विक संपत्ति की 20 प्रतिशत है। और 60,000 यूरो की औसत वैश्विक संपत्ति का दो सौ गुना है।

दुनिया के 1 प्रतिशत सर्वाधिक अमीरों यानी 4.5 करोड़ लोगों के पास औसतन (प्रति व्यक्ति) तीस लाख यूरो की संपत्ति है। यह औसतन वैश्विक संपत्ति की 50 गुना और सकल वैश्विक संपत्ति की 50 प्रतिशत है।

दुनिया में इतनी असमानता क्यों बढ़ी इस बारे में पिकेटी टिप्पणी करते हुए कारलोस स्लिम और बिल गेट्स जैसे दुनिया के शीर्ष अमीरों पर टिप्पणी करते हैं। उनका कहना है कि यह सब एकाधिकारवादी नियमों का परिणाम है। यह पूंजी पर वसूले जाने वाले रेंट और उन विभिन्न किस्म की कमाइयों का नतीजा है जिसे योग्यता वाली उद्यमशीलता की संज्ञा दी गई। मेक्सिको के रीयल इस्टेट और दूरसंचार के बड़े व्यवसायी कारलोस स्लिम और अमेरिका के माइक्रोसाफ्ट के किंग बिल गेट्स पर तंज करते हुए वे कहते हैं कि आखिर बिल गेट्स के काम में उनके इंजीनियरों और वैज्ञानिकों का योगदान नहीं है। क्या

उन्होंने अपने परचों का पेटेंट कराया।

इस बहस को आज के भारत के संदर्भ में देखा जाना चाहिए और ऐसे राजनीतिक विमर्श और उसे उठाने वाले राजनेता को तैयार किया जाना चाहिए जो इस बढ़ती असमानता और इसके खतरे को चिह्नित कर सकें। वे सरकार को बता सकें इस असमानता से न सिर्फ सामाजिक अराजकता का खतरा है बल्कि इससे वृद्धि दर के भी घटने का खतरा है। उदारीकरण के दौरान बढ़ती असमानता को वैश्वीकरण और लोकतंत्र के लिए खतरा बताते हुए नोबेल अर्थशास्त्री जोसेफ स्टिग्लिट्ज अपनी प्रसिद्ध किताब 'प्राइस आफ इनइक्विलिटी' में जिन प्रमुख विंदुओं को प्रस्तुत करते हैं वे इस प्रकार हैं-

1-हाल की अमेरिकी आय वृद्धि मुख्य रूप से ऊपर के एक प्रतिशत वालों के लिए हो रही है।

2-नतीजतन वहां असमानता बढ़ रही है।

3-अमेरिका में जो लोग नीचे और मध्य स्तर पर हैं आज वे वास्तव में उस स्थिति से भी बदतर हैं जहां वे सदी के आरंभ में थे।

4-असमानता सिर्फ आय के मामले में नहीं है बल्कि वह विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई पड़ रही है। ये क्षेत्र स्वास्थ्य और सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं।

5-आर्थिक ढांचे के निचले स्तर के लोगों के लिए जीवन बहुत कठिन है और मंदी ने उसे और भी बदतर बना दिया है।

6- अमेरिका का मध्यवर्ग खोखला हो रहा है।

7-आय संबंधी गतिशीलता बहुत संकुचित हो गई है। यह धारणा कि अमेरिका अवसरों का देश है एक मिथक साबित हुई है।

8-किसी भी विकसित औद्योगिक देश के मुकाबले अमेरिका में ज्यादा असमानता है।

9-संपत्ति की असमानता आय की असमानता से ज्यादा है।

अमेरिका में बढ़ती असमानता के लोकतंत्र पर पड़ने वाले असर पर काफी चर्चाएं हुई हैं और चल भी रही हैं। इस बारे में लिखने वाले और विमर्श चलाने वाले सिर्फ स्टिग्लिट्ज ही नहीं हैं बल्कि ऐसे समाजशास्त्रियों की लंबी फेहरिस्त है।

इस बारे में जैकब एस हैकर और पाल पीयरसन की किताब--'विनर टेक आल पालिटिक्स: हाउ वाशिंगटन मेड द रिच रिचर एंड टर्न्ड इट्स बैक आन मिडल क्लास', लारेंस लेसिग्स की किताब 'रिपब्लिक लास्ट:

हाउ मनी करप्स कांग्रेस एंड ए प्लान टू स्पार्ट इट', लैरी बारटेल्स की किताब 'अनइक्वल डेमोक्रेसी: द पोलिटिकल इकानमी आफ न्यू गिल्डेड एज', नेल्सन मैकार्थी, कीथ टी पूल, हार्वर्ड रोजेनथाल्स की किताब- 'पोलराइज्ड अमेरिका: डांस आफ आइडियोलोजी एंड अनइक्वल रिचेज' महत्वपूर्ण हैं। यह किताबें अपने शीर्षकों के माध्यम से ही साफ कह रही हैं कि बढ़ती असमानता राजनीति और अर्थव्यवस्था दोनों के लिए खतरनाक हैं।

इस असमानता को मिटाने के लिए स्टिग्लिट्ज आय और संपत्ति के पुनर्वितरण की सलाह देते हैं। इस बीच पुनर्वितरण के आलोचकों का कहना है कि इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ती है। समानता के आलोचकों का कहना है कि इस कार्यक्रम से गरीबों का जितना फायदा नहीं होता उससे कहीं ज्यादा ऊपर के तबके का और उनसे भी ज्यादा मध्य तबके का नुकसान होता है। उन लोगों का कहना है कि हम ज्यादा समानता प्राप्त कर सकते हैं लेकिन वह भी जीडीपी की तेजी से घटती दर पर।

इस पर तंज करते हुए स्टिग्लिट्ज कहते हैं, हकीकत इस धारणा के बिलकुल विपरीत है। हमारे पास एक ऐसी प्रणाली है जो कि रात दिन धन नीचे से ऊपर ले जाने में लगी हुई है। लेकिन यह प्रणाली इतनी अक्षम है कि ऊपर होने वाला फायदा मध्य स्तर पर होने वाले नुकसान से बहुत कम है।''

चीन में असमानता के स्तर की चर्चा मंथली रिव्यू ने अपने मशहूर अंक 'चाइना : द मार्केट सोशलिज्म' में विस्तार से की थी। आज चीन में मंदी की आशंका को देखते हुए वहां राजनीतिक अस्थिरता की आशंका जताई जा रही है।

यूनान की राजनीतिक अस्थिरता हमारे सामने है।

लेकिन भारत जैसे देश में जहां इतनी सामाजिक विविधता और असमानता है कि उसके आगे आर्थिक असमानता गौण हो जाती है। यहां के ट्रेड यूनियन आंदोलन, किसान आंदोलन, कर्मचारी आंदोलन, मध्यवर्गीय आंदोलन सभी को धर्म, जाति और भाषा के आधार पर बने समूहों ने तोड़ रखा है। यह जानना दिलचस्प है कि हाल में जनगणना के जो आंकड़े आए हैं उनमें जनता के बड़े तबके में आय की असमानता, लोगों की साधनविहीनता, बेरोजगारी, आर्थिक असुरक्षा, सामाजिक असुरक्षा का विस्तार से वर्णन है। लेकिन हमारे राजनीतिक दलों को अगर चिंता है जो हिंदू और मुसलमानों की आबादी की रफ्तार के आंकड़ों और जाति के आंकड़ों

की। ऐसे में इस बात की उम्मीद बहुत कम दिखती है हमारी सरकार आय और संपत्ति की असमानता कम करने के लिए कोई ठोस कदम उठाएगी या पारंपरिक मार्क्सवादी दलों को छोड़कर अन्य पार्टियां उस पर कोई गंभीर विमर्श खड़ा करेंगी। लेकिन एक संभावना बनती है और वो यह कि जाति के आधार पर और धर्म के आधार पर आर्थिक असमानता के खिलाफ आवाज उठे। पर यह लड़ाई क्या आर्थिक असमानता को मिटाएगी या आरक्षण और कुछ योजनाओं की घोषणा के साथ उसी प्रकार समाप्त हो जाएगी जिस प्रकार मिलानोविच से विश्व बैंक के अधिकारियों ने कहा था कि चैरिटी की बात तो ठीक है लेकिन आर्थिक असमानता की चर्चा ठीक नहीं है, क्योंकि उससे ऐसा लगता है कि समाज के ताकतवर लोगों की सत्ता और आय अवैध है। सबका साथ और सबका विकास का नारा तो बहुत उछाला जा रहा है लेकिन यह भुला दिया जा रहा है कि इसके भीतर समता की भावना भरे बिना यह अच्छे दिन के नारे की तरह खोखला ही साबित होने वाला है। इस देश का शक्तिशाली तबका राष्ट्रवाद के माध्यम से असमानता की सच्चाई और समता की आवाज को दबाने में लगा है।

भारत में आय और संपत्ति की बढ़ती असमानता और उससे निकलने वाली असुरक्षा भारत में नए किस्म के टकराव और अराजकता की जमीन तैयार कर रही है। यह एक व्यक्ति एक वोट के सिद्धांत को धनतंत्र के नीचे दबाने की कोशिश है। यह वही खतरा है जिसके प्रति आंबेडकर ने आगाह किया था। उनका कहना था कि हम भारी सामाजिक और आर्थिक असमानता की सच्चाइयों के बीच राजनीतिक समानता का संविधान लागू कर रहे हैं लेकिन अगर असमानता को दूर नहीं कर पाए तो जनता संविधान को जला देगी। इस असमानता को दूर करने का एजेंडा आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना 1950 में संविधान को ग्रहण किए जाते समय था या 1963 में लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पर दिए गए डा राम मनोहर लोहिया के भाषण के समय था। बस फर्क यही था कि उस समय एक तरफ सोवियत संघ के खेमे और दूसरी तरफ चीन के माओवाद का खौफ था। सर्वहारा की तानाशाही आने के डर से तमाम औद्योगिक देश अपने नागरिकों को साथ लेकर विकास कर रहे थे। न्यू डील, ट्रीटी आफ डेट्रायट और यूरोप की कल्याणकारी योजनाएं थीं। आज इन सबसे ऊपर इस लोकतंत्र की चिंता है। जिस सामाजिक लोकतंत्र की प्रासंगिकता को फ्रांसिस फुकुयामा ने 'एंड आफ हिस्ट्री में'

रेखांकित करते हुए कहा है कि 1789 की फ्रांसीसी क्रांति की स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के मूल्य आज भी प्रासंगिक हैं और दुनिया आज भी उन्हीं को हासिल करने में लगी हुई है।

इस असमानता को मिटाने के लिए पिकेटी ने जो सुझाव दिए हैं उनमें सामाजिक राज्य की वापसी की आवश्यकता पर जोर है। 2008 की मंदी के संकट से सामाजिक राज्य की वापसी की चर्चा हो रही है लेकिन उसकी वापसी स्थायी रूप से होनी चाहिए। तभी असमानता की मौजूदा तस्वीर बदल सकती है। लोगों को शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र में और रिटायर होने पर सामाजिक सुरक्षा देने की जरूरत है। यानी आज कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को समाप्त करने की बजाय उसके आधुनिकीकरण की आवश्यकता है। एक अच्छी सामाजिक और आर्थिक नीति यह होती है जो बेहद ऊंची आय पर सिर्फ आंशिक ऊंचे कर से ज्यादा कर लगाया जाना चाहिए।

'पिकेटी का कहना है कि बीसवीं सदी में वर्धमान आयकर की अवधारणा विकसित की गई थी लेकिन नई सदी की चुनौती का सामना करने के लिए पूंजी पर ज्यादा वर्धमान (वृद्धिमान) कर की जरूरत है।

'आधुनिक पुनर्वितरण प्रणाली आय को अमीर से गरीब की ओर ले जाने पर जोर नहीं देती बल्कि सार्वजनिक सेवा में अक्षमता को प्रोत्साहित करती है।

'पूँजी पर ग्लोबल टैक्स लगाया जाना चाहिए।

'विकासशील देशों की मौजूदा कर प्रणाली को भी बदलने की जरूरत है जो कि सिर्फ ज्यादा लोगों पर कम कर लगाकर काम चलाना चाहती है।

पिकेटी ने साम्यवाद के पतन और आज की स्थितियों को अलग संदर्भ और असमानता पर शोध और विमर्श के नए अवसर के रूप में देखा है। उनका कहना है कि राजनीति और विचार सामाजिक और आर्थिक विकास से स्वतंत्र होकर भी चलते हैं। संसदीय संस्थाएं और सरकारें सिर्फ बुर्जुआ संस्थाएं नहीं हुआ करती थीं जैसा कि बर्लिन की दीवार गिरने से पहले मार्क्सवादी बुद्धिजीवी कहा करते थे।1917 से 1989 तक चले दो ध्रुवीय टकराव अब पीछे झूट गए हैं। साम्यवाद और पूंजीवाद के टकरावों ने इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों और दार्शनिकों के लिए पूंजी और गैर बराबरी पर होने वाले शोध को उत्प्रेरित करने की बजाय उसका बंध्याकरण कर दिया। ... उनके विवादों से निकल कर इस शोध को ईमानदारी से बढ़ाने में

अभी समय लगेगा।”

इन विंदुओं पर स्टिग्लिट्ज खुद सवाल पूछते हुए जवाब देते हैं कि यह गैर बराबरी लगता है कि बाजार की देन है। लेकिन बाजार की नीतियां बनाने में सरकार का ही योगदान है। पर वे बाजार और वित्तीय गतिविधियों को ज्यादा से ज्यादा पारदर्शी और जवाबदेह बनाने पर जोर देते हैं और इसके लिए सरकारी हस्तक्षेप को जायज ठहराते हैं। हालांकि तमाम बाजारवादी सरकारी हस्तक्षेप को गलत मानते हुए बाजार को ज्यादा से आजादी देने और स्थिति को उसी के भरोसे छोड़ देने का सुझाव देते हैं।

इस बारे में किशन पटनायक 1990 में गांधी का समाजवाद और ट्रस्टीशिप के विचार शीर्षक से लिखे लेख में डा राम मनोहर लोहिया द्वारा 1967 में प्रतिपादित ट्रस्टीशिप सिद्धांत का हवाला देते हैं। गांधीजी ने कहा, “मैं न आरामकुरसी के समाजवाद और न ही सशस्त्र समाजवाद में विश्वास करता हूँ। मेरा विश्वास है कि कुछ मुख्य उद्योग जरूरी हैं। मैं अपनी निष्ठा के आधार पर या उसके मुताबिक पूर्ण हृदय परिवर्तन की प्रतीक्षा किए बिना कर्म में विश्वास करता हूँ। मैं उन उद्योगों को राज्य की मिल्कियत के अंतर्गत करता जहां बहुत से लोग काम करते हैं वहां इन लोगों का श्रम दक्ष हो या अदक्ष, उत्पादन की मिल्कियत राज्य के माध्यम से इन लोगों के पास ही रहेगी। मैं ऐसे वाले आदमियों को जबरन नहीं हटाऊंगा वरन राज्य की मिल्कियत में परिवर्तित करने की प्रक्रिया में उनका सहयोग आमंत्रित करूंगा। समाज से अलग या बहिष्कृत कोई नहीं है, भले ही वह लखपति हो या कंगाल। लखपति और कंगाल एक ही बीमारी के घाव हैं।”

किशन पटनायक लिखते हैं, “गांधीजी ने एकदम स्पष्ट व जोरदार ढंग से मालिकों को ट्रस्टियों में बदलने की बात कही, उन्होंने कहा कि लाखों-करोड़ों द्वारा सत्ता व संपत्ति में हिस्सा प्राप्त करने की इच्छा के कारण असमानता का बना रहना असंभव हो जाएगा।”

गांधीजी आगे कहते हैं, “जब जनता के पास, जमीन जोतने वालों के लिए राजनीतिक ताकत न हो तब के लिए सविनय अवज्ञा और असहयोग के तरीके हैं पर जैसे ही उन्हें राजनैतिक सत्ता और ताकत हासिल होगी, यह स्वाभाविक होगा कि उनकी हालत कानूनी तरीके से सुधारी जाए। लेकिन किसान को शायद इतनी राजनैतिक सत्ता न प्राप्त हो.....यदि विधानमंडल किसानों के हितों का संरक्षण करने में असमर्थ रहा तो किसानों के पास हमेशा सविनय अवज्ञा का अमोघ अस्त्र है ही.....”

गांधी यहीं नहीं रुकते बल्कि वे लखपतियों (अरबपतियों) और कंगालियों की बीमारी को दूर करने के लिए स्पष्ट और निर्भीक विचार रखना जारी रखते हैं। वे उन स्थितियों को हटाना चाहते हैं जहां यह बीमारी पलती है। “कोई भी व्यक्ति चाहे वह शाहजादा हो या व्यापारी वंशगत या स्वअर्जित संपत्ति का स्वयं मालिक नहीं हो सकता न ही इस संपत्ति के बारे में उसका स्वैच्छिक अधिकार हो सकता है। वर्तमान असमानताएं निश्चय ही लोगों के अज्ञान के कारण हैं। लोगों को अपनी स्वाभाविक शक्ति का ज्ञान जैसे ही बढ़ेगा असमानताओं का खत्म होना लाजिमी है।”

गांधी के इन्हीं विचारों के आधार पर 1966 के उत्तरार्ध में (यह) गैर सरकारी विधेयक लोकसभा के सचिवालय को भेजा था और तब यह ‘भारतीय ट्रस्टीशिप विधेयक 1966’ था। उन्होंने इसे 17 मार्च, 1967 को इसे वर्ष बदलकर फिर भेजा। 12 जून को औद्योगिक विकास मंत्री फखरुद्दीन अली अहमद ने डा लोहिया को सूचित किया कि धन संबंधी विधेयक होने के कारण राष्ट्रपति ने इसे पेश किए जाने की अनुमति दिए जाने से इनकार कर दिया है। डा लोहिया ने विधेयक पर फिर विचार करने का अनुरोध किया, यह कहते हुए कि इसकी धाराएं बाध्यतामूलक नहीं हैं।

विधेयक की प्रस्तावना में लोहिया ने लिखा था, “महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि जब हिंदुस्तान आजाद हो जाएगा तो सब पूंजीपतियों को यह अवसर दिया जाएगा कि वे कानूनी ट्रस्टी बन जाएं। यह विधेयक बड़ी बड़ी कंपनियों के मालिकों को इस तरह का अवसर प्रदान करता है और गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धांतों के अनुसार इससे पैदा होने वाले ट्रस्ट निगमों के लोकतांत्रिक प्रबंध की व्यवस्था करता है। इस विधेयक की धाराओं का उद्देश्य शांतिपूर्ण तरीकों से समाजवादी समाज का युग लाना है।”

हम जानते हैं कि इन बातों को याद करना और उनके आधार पर सिद्धांत और कार्यक्रम बनाना आसान है लेकिन पूंजीपतियों को ट्रस्टी बनने के लिए तैयार करना आसान नहीं है। यह बात पिकेटी भी उस समय कहते हैं जब ग्लोबल कैपिटल टैक्स की बात करते हैं और इसे एक उटोपिया विचार बताते हैं। लेकिन आज दुनिया भर में जो महसूस किया जा रहा है उसे मांग की शक्ल देने की पहल हम गांधी, लोहिया और किशन पटनायक के विचारों को मानने वाले तो कर ही सकते हैं। धन्यवाद।

परमाणु ऊर्जा, जन व पर्यावरण का विनाश और मोदी सरकार

कुमार सुन्दरम

यूपीए सरकार के दौरान अमेरिका से परमाणु डील और परमाणु दायित्व क़ानून के प्रावधानों को देसी-विदेशी निवेशकों के हित में मोड़ने का भले ही भाजपा विपक्ष में रहने के दौरान दस सालों तक विरोध करती रही हो, मोदी सरकार ने इस मुद्दे पर अपनी पारी ठीक वहीं से शुरू की जहां मनमोहन सिंह ने छोड़ी थी। सत्तासीन होने के कुछ ही हफ़्तों बाद मोदी सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (IAEA) के अतिरिक्त प्रोटोकॉल पर हस्ताक्षर किया और फिर जल्दी ही देश के परमाणु-विरोधी समूहों और कार्यकर्ताओं को देशद्रोही बताने वाली आईबी रिपोर्ट जारी की गयी, जिसमें अणुमुक्ति समूह से लेकर सीएनडीपी सहित तमाम समूह शामिल थे। इसके साथ ही प्रधानमंत्री की विदेश यात्राओं का सिलसिला शुरू हुआ जिसमें लगभग हर देश के साथ परमाणु संधि किसी तमगे की तरह शामिल रहती है।

फुकुशिमा दुर्घटना के बाद जहां पूरी दुनिया में विभिन्न देशों ने परमाणु ऊर्जा से तौबा कर ली है, भारत ने अंतर्राष्ट्रीय लॉबियों के दबाव में अँधेरे कुएं में छलांग लगाने की नीति अपनाई है। नए साल में, एक बार फिर 26 जनवरी को जो कि देश की संप्रभुता का उत्सव होता है, फ्रांस के राष्ट्रपति ओलांदे मुख्य अतिथि होंगे और फ्रांस से परमाणु डील आगे बढ़ाई जाएगी। दिसम्बर में जब नरेंद्र मोदी रूस गए तो वहाँ भी उन्होंने राष्ट्रपति पुतिन के साथ परमाणु डील की जिसके तहत कूडनकुलम में अणु बिजलीघरों की संख्या बढ़ाई जाएगी। 2015 में इस रास्ते में निर्णायक मोड़ आए। साल की शुरूआत में 26 जनवरी को अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा की यात्रा के दौरान मोदी सरकार ने उनको यह आश्वासन दिया कि किसी दुर्घटना की स्थिति में अमेरिकी कंपनियों को जवाबदेह ठहराने और उनसे मुआवजा माँगने के बजाय भारत सरकार सार्वजनिक क्षेत्र की बीमा कंपनियों के माध्यम से उनका मुआवजा भारतीय जनता

के पैसों से चुकाएगी। और साल के अंत में जापानी प्रधानमंत्री शिंजो आबे की यात्रा के दौरान भारत-जापान परमाणु समझौते के लिए एक एमओयू पर हस्ताक्षर किया गया जिसका भारत भर में किसानों-मछुआरों और नागरिक समूहों ने विरोध किया, उनके समर्थन में जापान में लोग सड़कों पर उतरे तथा दुनिया के कई दूसरे देशों में अणुविरोधी कार्यकर्ताओं ने जापानी दूतावास के दौरान प्रदर्शन किया।

भारत और जापान के बीच यह समझौता इसी वजह से काफी महत्वपूर्ण है कि यह दरअसल 2005 में हुए भारत-अमेरिका परमाणु समझौते का बचा हुआ टुकड़ा है। उस समझौते के दस साल बाद भी अमेरिकी कंपनियों – वेस्टिंगहाउस तथा जेनेरल इलेक्ट्रिक(जीई), और फ्रांसीसी कंपनी अरेवा के अणुबिजली प्रोजेक्ट भारत की ज़मीन पर अटके पड़े हैं तो इसका एक बड़ा कारण भारत और जापान के बीच अब तक परमाणु समझौता न होना है। दोनों बड़ी अमेरिकी परमाणु कंपनियों में इस बीच जापानी शेयर बढ़े हैं और वेस्टिंगहाउस का नाम अब वेस्टिंगहाउस-तोशिबा है और जीई अब जीई हिताची है। बाज़ार में हुए इस बड़े बदलाव ने भारत और अमेरिका की राजनीतिक संधि के सामने समस्या खड़ी कर दी है। फ्रेंच कंपनी अरेवा के डिज़ाइन में एक बिलकुल ही ज़रूरी पुर्जा – रिएक्टर का प्रेशर वेसल – सिर्फ जापानी कम्पनियां बनाती हैं और उसके लिए भी जापान से भारत का कानूनी करार ज़रूरी है।

लेकिन इस डील को लेकर जापान पर अमेरिका और फ्रांस का दबाव बना हुआ है इसलिए इसको परवान चढ़ाने की कोशिश तो जारी रहेगी। साथ ही, अपने व्यापक प्रभावों के कारण इस डील का बढ़े पैमाने पर विरोध भी बना रहेगा। शिंजो आबे की भारत यात्रा के ठीक एक दिन पहले हिरोशिमा और नागासाकी के दोनों मेयर एक साथ आए और प्रेस कांफ्रेंस कर के इस डील

का विरोध किया। जापानी राजनीतिक सिस्टम के लिए यह एक असाधारण घटना थी। इसके अलावा, परमाणु दुर्घटना की विभीषिका झेल रहे फुकुशिमा के मेयर कात्सुताका इदोगावा ने भी परमाणु समझौते का मुखर विरोध किया। जापान की कम्यूनिस्ट पार्टी और अन्य विपक्षी दलों ने भी इस समझौते का विरोध किया।

शिंजो आबे जिस हफ्ते भारत आए उसी सप्ताह में फुकुशिमा से यह खबर आई की दुर्घटना के चार साल 9 महीने बाद बीस किलोमीटर के दायरे में खतरनाक रेडियोधर्मी कचरे के कुल नब्बे लाख बड़े-बड़े थैले पसरे हुए हैं, जिसको निपटाने के लिए न कोई जगह है न तकनीक क्योंकि परमाणु विकिरण हज़ारों सालों तक रहता है। फुकुशिमा प्लांट अभी भी नियंत्रण से बाहर है और अत्यधिक तापमान को ठंडा रखने के लिए पिछले पांच सालों से प्रतिदिन सौ टन से अधिक पानी काफी दूर से डाला जा रहा है, जो अति-विषाक्त होकर वापस आता है और जापानी सरकार और टेक्को कंपनी के लिए सरदर्द बना हुआ है। इन पांच सालों में हज़ारों टन ऐसा पानी विशालकाय टैंकों में जमा हो रहा है क्योंकि इसे समुद्र में सीधा छोड़ना पूरे प्रशांत महासागर को विषैला बना देगा। फिर भी, बरसात के मौसम में चुपके से कंपनी द्वारा काफी विकिरण-युक्त जहरीला पानी समुद्र में छोड़ने का खुलासा हुआ है।

एक तरफ फुकुशिमा के दुर्घटनाग्रस्त संयंत्र पर काबू नहीं पाया जा सका है तो दूसरी तरफ कम से कम दो लाख लोग जापान जैसे सीमित भूभाग वाले इलाके में बेघर हैं, जिनको सहयोग और मुआवजा देने से सरकार और कंपनी दोनों मुंह मोड़ चुके हैं। इस हालत में, जापान का भारत को परमाणु तकनीक बेचना पूरी तरह अनैतिक है और दरअसल अपने उन परमाणु कारपोरेटों को जिंदा रखने की कोशिश का नतीजा है जिनके सारे संयंत्र फुकुशिमा के बाद से पूरे जापान में जन-दबाव में बंद हैं और वे अपना घाटा नहीं पूरा कर पा रहे हैं।

दूसरी तरफ, भारत में परमाणु बिजलीघरों के बेतहाशा निर्माण से लाखों किसानों और मछुआरों की जिंदगी तबाह हो रही है और यह परमाणु डील उनके लिए बेहद बुरी खबर है। किसानों की प्राथमिक चिंता तो ज़मीन छीने जाने को लेकर है लेकिन जिन गाँवों की ज़मीन नहीं भी जा रही उनको भी परमाणु बिजलीघरों से बिना दुर्घटना के भी सामान्यतः निकालने वाले विकिरण-युक्त गैस और अन्य अपशिष्टों से बीमारियों का खतरा

है, जैसा दुनिया के सभी मौजूदा परमाणु कारखानों के मामले में दर्ज किया गया है। जैतापुर के नजदीक घनी आबादी वाले मछुआरों के गाँव हैं और परमाणु बिजली घर से निकालने वाला गरम पानी आस-पास के समुद्र का तापमान 5 से 7 डिग्री बढ़ा देगा जिससे उनको मिलने वाली मछलियाँ उस इलाके से लुप्त हो जाएँगी। इसके साथ ही भारत में परमाणु खतरे की आशंका भी निर्मूल नहीं है। परमाणु सेक्टर के पूरी तरह गोपनीय और गैर-जवाबदेह होने और आम तौर पर दुर्घटनाओं से निपटने में सरकारी तंत्र की नाकामी के कारण पहले से ही खतरनाक परमाणु संयंत्र भारत आने पर और ज़्यादा खतरनाक हो जाते हैं। परमाणु उत्तरदायित्व मामले पर सरकार और आपूर्तिकर्ता कारपोरेटों के रुख से तो यही पता चलता है कि उनको अपने ही बनाए उत्पादों की सुरक्षा का भरोसा नहीं है और पूरी मीडिया का इस्तेमाल कर के वे जिन संयंत्रों की सुरक्षा का दावा कर रहे हैं और साधारण लोगों को अपनी सुरक्षा दांव पर लगाने को कह रहे हैं, खुद अपना पैसा तक मुआवजे की राशि के बतौर दांव पर रखने को तैयार नहीं हैं।

इसी महीने पेरिस में हुए जलवायु परिवर्तन पर ग्लोबल बैठक (COP21) में भी भारत समेत अन्य सरकारों ने परमाणु ऊर्जा को कार्बन-विहीन और हरित बताकर समस्या की बजाय समाधान का हिस्सा बताने की कोशिश की है और दुनिया भर में परमाणु लौबी की कोशिश है कि इस बहाने विस्तार किया जाए। लेकिन यह तर्क कई स्तरों पर विरोधाभास से भरा हुआ है। एक तो जैतापुर में परमाणु प्लांट लगाने के लिए भारत की सबसे खूबसूरत और पर्यावरणीय दृष्टि से नाजुक कोंकण इलाके के पूरे पारिस्थितिक और वनस्पति तंत्र को खुद परमाणु कारखाना बरबाद कर रहा है, और इसके लिए सरकार ने बिलकुल फर्जी तरीके से पर्यावरणीय मंजूरी हासिल की है। दूसरे, वैसे भी परमाणु कारखानों के निर्माण से लेकर युरेनियम ईंधन के खनन, परिवहन और सैंकड़ों साल तक परमाणु कचरे के निस्तारण में कार्बन-उत्सर्जी प्रक्रियाओं का इस्तेमाल होता है जिनको परमाणु लौबी अपने कार्बन छाप (footprint) में नहीं गिनती।

दिसंबर में जापानी परधानमंत्री जैसे नरेंद्र मोदी के लिए सांता क्लॉज़ बन के आए थे। बुलेट ट्रेन, लड़ाकू नौसेनिक विमान, औद्योगिक गलियारे के लिए निवेश और भारत-जापान परमाणु समझौता। भारतीय मीडिया को ज़्यादा तरजीह देने लायक मामले बुलेट ट्रेन और

बनारस में शिंजो आबे की गंगा आरती ही लगे, लेकिन इसी बीच परमाणु समझौते को भी मुकम्मल घोषित कर दिया गया। हिन्दुस्तान टाइम्स के विज्ञान व अंतर्राष्ट्रीय मामलों के प्रभारी पत्रकार परमीत पाल चौधरी ने अपने सरकारी स्रोतों के हवाले से इस परमाणु डील को फाइनल करार दे दिया और यह भी खबर दी कि अमेरिकी कंपनी वेस्टिंगहाउस अब रास्ता साफ होने के बाद 1000 मेगावाट क्षमता के 6 परमाणु बिजली कारखाने बेचने का मसौदा लेकर तैयार है।

लेकिन भारत में मीडिया और सरकार के दावों के विपरीत, परमाणु समझौता अभी संपन्न नहीं हुआ है। भारत और जापान की साझा घोषणा में परमाणु मसले पर सैद्धांतिक सहमति का उल्लेख है और इसके लिए एक एमओयू पर हस्ताक्षर होने की सूचना है। यह एमओयू भारतीय सरकार ने सार्वजनिक नहीं किया है लेकिन जापान में इसे साझा किया गया है। यह एमओयू दो लम्बे वाक्यों की घोषणा भर है जिसमें समझौता शब्द तीन बार आता है – हमने द्विपक्षीय समझौते के लिए समझौता कर लिया है ताकि निकट भविष्य में समझौता हो पाए। यह एमओयू परमाणु डील को दोनों तरफ के अधिकारियों के हवाले कर देता है, जिससे भारतीय मीडिया ने अपने हिसाब से यह अर्थ निकाला कि शीर्ष स्तर समझौता हो गया और बाकी ब्योरों पर काम होना भर बचा है। जबकि जापानी मीडिया और राजनीतिक गलियारों में स्थिति बिलकुल उलटी है। भारत के साथ परमाणु डील जापान की पारंपरिक अंतर्राष्ट्रीय नीति से मेल नहीं खाता क्योंकि जापान हिरोशिमा के बाद परमाणु निरस्त्रीकरण का पैरोकार रहा है और परमाणु अप्रसार संधि(एनपीटी) से बाहर के देशों से परमाणु तकनीक का लेन-देन नहीं करता। जापान के विदेश-मंत्रालय और नीति अधिष्ठान में पिछले दस सालों से इस बात को लेकर एक मजबूत अंदरूनी अस्वीकार्यता रही है और कयास यही लगाए जा रहे थे कि अगर डील हो पाती है तो विदेश मंत्रालय और इसके अधिकारियों को किनारे रखकर जापान के दक्षिणपंथी प्रधानमंत्री शिंजो आबे के व्यक्तिगत दबाव में ही होगी। इस डील की जद्दोजहद को वापस मंत्रालय तक पहुँचने को जापान में एक कदम पीछे जाना समझा जा रहा है। लेकिन मोदी जी के भारत में अंतर्राष्ट्रीय उपलब्धियों का ढोल पीटने से कौन रोक सकता है।

परमाणु ऊर्जा का सच

जैतापुर या कूडनकुलम का आंदोलन हो या भारत-जापान परमाणु समझौते के खिलाफ इस हफ्ते होने वाला देशव्यापी आंदोलन, इन सभी मौकों पर देश के शहरी मध्यवर्ग और उसके साथ-साथ मीडिया से लेकर अदालतों तक सबका रुख यही रहता है कि विस्थापन, पर्यावरण और सुरक्षा के सवाल तो अपनी जगह ठीक हैं, लेकिन भारत को बिजली तो चाहिए विकास तो चाहिए। देश के लिए विकास, विकास के लिए बेतहाशा बिजली और बिजली के लिए अणु-बिजलीघर, इन तीनों कनेक्शनों को बिना किसी बहस के सिद्ध मान लिया गया है और आप इस तर्क की किसी भी गाँठ को दूसरी सूचनाओं-परिप्रेक्ष्यों से खोलने की कोशिश करते हैं तो राष्ट्रद्रोही करार दे दिए जाते हैं।

2011 के मार्च में फुकुशिमा दुर्घटना हुई और जब बीबीसी ने साल के अंत में एक अंतर्राष्ट्रीय सर्वे कराया तो यह पाया कि पूरी दुनिया में दुर्घटना के बाद अणुऊर्जा को लेकर आम धारणा बदली है और परमाणु ऊर्जा को लेकर जनसमर्थन न्यूनतम स्तर पर पहुँच गया है। फुकुशिमा में जो हुआ, और अब भी हो रहा है, वह पूरी दुनिया की आँखें खोलने वाला साबित हुआ है और पिछले पांच सालों में कई देशों ने अपनी ऊर्जा नीति में आमूलचूल बदलाव किए हैं। जर्मनी, ऑस्ट्रिया, स्वीडन और स्विट्ज़रलैंड जैसे देशों ने पूरी तरह परमाणु-मुक्त ऊर्जा नीति बनाई है तो फ्रांस ने जिसकी 75% बिजली अणुऊर्जा से आती है, इसको तत्काल 50% तक लाने की घोषणा कर दी है और वहाँ क्रमशः इसे और कम किया जाएगा। लेकिन इसी दौरान भारत के सुदूर दक्षिणी छोर पर कूडनकुलम में स्थानीय लोगों का आंदोलन चल रहा था, और भारत की सरकार ने ग्रामीणों के सवाल को वाजिब मानकर उनसे बात करने की बजाय मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों का एक दल देश के सबसे प्रसिद्ध मनोचिंतसा संस्थान से भेजा!

जब इन काउंसिलरों से बात नहीं बनी तो हज़ारों पुलिस और अर्द्धसैनिक बल भेजे गए और जल्दी ही पूरे गाँव को घेर कर उसका खाना-पानी-यातायात सब हफ्ते भर काट दिया गया, लोगों को पुलिस ने घर में घुसकर पीटा और उनकी नावें तोड़ दीं, और मनमोहन सिंह सरकार ने उस उलाके के आठ हज़ार से अधिक लोगों के ऊपर देशद्रोह का मुकदमा दायर कर दिया। बर्बर सरकारी दमन में चार लोग मारे गए और औरतों

समेत सैकड़ों स्थानीय लोग महीनों तक जेल में ठूस दिए गए। मछुआरों की शांतिपूर्ण रैली को पुलिस ने खदेड़कर समुद्र में धकेल दिया जहां उनके ऊपर नौसेना के विमान मंडरा रहे थे। किसी सरकार ने अपने ही लोगों के खिलाफ ऐसा खुला युद्ध लड़ा हो, इसकी मिसालें कम ही मिलती हैं। सुप्रीम कोर्ट ने भी कूडनकुलम केस में उठाए गए आठ छोटे और ठोस सवाल - जिनका सम्बन्ध इस परियोजना में पर्यावरण और सुरक्षा नियमों की घातक अवहेलना से था - पर कुछ नहीं कहा और जजों ने 250 पन्नों के फैसले में बार-बार सिर्फ यही दुहराया कि देश को विकास और ऊर्जा की ज़रूरत है। और इस आधार पर अणुऊर्जा विभाग को सादा चेक दे दिया, जैसे परमाणु ऊर्जा अगर ज़रूरी हो तब खुद सरकारी सुरक्षा मानकों की खुली अवहेलना भी वाजिब हो जाए। कूडनकुलम केस में तो कोर्ट से याचिका में यह पूछा तक नहीं गया था कि वह बताए कि देश को परमाणु ऊर्जा चाहिए कि नहीं, और यह फैसला करना वैसे भी कोर्ट का क्षेत्राधिकार नहीं है।

आखिर फुकुशिमा के बाद भी भारत में परमाणु ऊर्जा को लेकर इतना तगड़ा सरकारी समर्थन क्यों है? फुकुशिमा के बाद की दुनिया में अणुऊर्जा के इतने बड़े विस्तार की योजना बना रहा देश भारत अकेला क्यों बचा है? अपने निर्णायक संकट के दौर से गुज़र रही अंतर्राष्ट्रीय परमाणु लॉबी की आशा भारत क्यों है जहां सरकार पर्यावरणीय कानूनों, सुरक्षा व उत्तरदायित्व के सवालों और स्थानीय जन-प्रतिरोधों सबको किनारे करते हुए उसका स्वागत करने को तैयार है?

क्यों है भारत में परमाणु ऊर्जा की लिए अंधी दौड़?

क्या सचमुच भारत को परमाणु की ज़रूरत है? यह पूछने से पहले सरकार और उसके कारिदों से यह पूछना चाहिए कि आप इस निष्कर्ष पर कैसे पहुंचे कि भारत को परमाणु ऊर्जा की, और वह भी इतनी बड़ी मात्रा में, सचमुच ज़रूरत है? 2004 तक खुद अणु ऊर्जा विभाग के कागज़ों में कहीं इतने बड़े पैमाने पर परमाणु ऊर्जा के विस्तार का जिक्र नहीं था। लेकिन 2006 में घोषित समेकित ऊर्जा नीति में अचानक हमें बताया गया कि सन 2052 तक 250 गीगावाट यानी कुल बिजली का पचीस प्रतिशत परमाणु से आना चाहिए। मौजूदा उत्पादन ढाई प्रतिशत से भी कम है। 2004 और 2006 के बीच ऐसा क्या हुआ? क्या

बिजली को लेकर कोई राष्ट्रीय बहस हुई? इसमें गैर-सरकारी विशेषज्ञ और ऊर्जा तथा विकास को ज़मीनी व वैकल्पिक नजरिए से देखने वाले नागरिक शामिल थे? नहीं ऐसा कुछ नहीं हुआ। बल्कि विदेशों से परमाणु बिजलीघरों के आयात और इतने बड़े पैमाने विस्तार की बात खुद अणुऊर्जा विभाग के लिए औचक खबर की तरह आई।

ऐसा इसलिए हुआ कि 2004 और 2006 बीच 2005का साल आया। इस साल भारत और अमेरिका बीच एक व्यापक परमाणु डील हुई। मनमोहन सिंह अमेरिका के दौरे पर थे और परमाणु डील की पेशकश अमेरिकी तरफ से आई थी।

क्या थी यह डील? यह डील भारत सारतः को अमेरिकी विदेश-नीति की आगोश में लेने की कवायद थी जिसके लिए भारत के परमाणु हथियारों को अंतर्राष्ट्रीय वैधता दिलाना इस डील का मकसद था।

भारत ने 1950 और 1960 के दशक में ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका आदि देशों से शांतिपूर्ण उपयोग के नाम पर जो परमाणु तकनीक और सामग्री हासिल की थी, उसी का इस्तेमाल कर के 1974 में पहला बम-विस्फोट किया था, जिसके बाद भारत पर पूरी दुनिया ने परमाणु के क्षेत्र में प्रतिबन्ध लगा दिया था। ये प्रतिबन्ध 1998 के परमाणु टेस्ट के बाद और कड़े किए गए थे। लेकिन 1974 और 1998 के बीच अंतर यह था कि भारत 1991 में अपना बाज़ार खोल चुका था और इतने बड़े उपभोक्ता समूह वाले देश पर आर्थिक प्रतिबन्ध से खुद अमेरिका और पश्चिमी देशों को ही नुकसान हो रहा था। साथ ही, उन्हें अंतर्राष्ट्रीय चौपालों पर भारत को अपने साथ बिठाना था और ईरान से लेकर चीन तक को लेकर बिछी शतरंज में भारत को अपने साथ रखना था। उस स्तर के एक पार्टनर की हैसियत के साथ भारत पर 35 सालों से चले आ रहे ये प्रतिबन्ध मेल नहीं खाते थे। इसलिए परमाणु डील दरअसल भारत के हथियारों को वैधता देकर उसे बदलती दुनिया में अपने साथ बिठाने की कवायद ज़रूरी थी।

लेकिन भारत पर दशकों से प्रतिबन्ध सिर्फ अमेरिका ने नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी और 46 देशों के परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह ने लगाए थे और इन मंचों से भारत को मान्यता दिलवाने में और भी समय व उपाय लगे। भारत ने चउ देशों को अपनी एंट्री के बदले में भारी मात्रा में परमाणु बिजलीघर व यूरेनियम

खरीदने का वादा किया। इस सौदे में भी अमेरिका को बड़ा शेयर मिला क्योंकि उसी के समर्थन से इतना बड़ा बदलाव संभव हुआ। तो भारत का मानचित्र उठाकर अमेरिका को परमाणु ऊर्जा प्रकल्पों के लिए दो साइट और फ्रांस को एक बड़ी साइट, रूस को दो नई जगहें और अन्य देशों को इन नई अणु-भट्टियों के लिए भारी मात्रा में ईंधन-खरीद का वादा किया गया।

ऐसा करते समय न तो इन जगहों पर रह रहे लोगों से पूछा गया, न इन इलाकों के पर्यावरण की बात सोची गयी, न ऊर्जा मंत्रालय से पूछा गया कि क्या सचमुच परमाणु ऊर्जा की इतनी बड़ी ज़रूरत है और न ही अब तक बम बनाने की संवेदनशीलता के कारण नियंत्रित स्तर पर काम कर रहे परमाणु ऊर्जा विभाग से यह पूछा गया कि उसके पास इन 35 नई परियोजनाओं के लिए इंजीनियर और अनुभव भी है।

भारत में परमाणु ऊर्जा वैसे ज़रूरी है या नहीं या उसके खतरों के मद्देनज़र क्या विकल्प हैं, यह मेरे लिए एक दूसरी बहस का सवाल है जो जनपथ के पाठकों से करने के लिए मैं तैयार हूँ, लेकिन सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि परमाणु ऊर्जा के महा-विस्तार की मौजूदा योजना का उन सवालों से कोई सीधा लेना-देना है ही नहीं। भारत में लग रहे परमाणु संयंत्र असल में वह कीमत है जो हम परमाणु बमों के लिए - असल में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर परमाणु बम-संपन्न देशों के क्लब में शामिल होने के लिए - चुका रहे हैं।

और यही वजह है कि इन नए बिजलीघरों से देश के पर्यावरण को हो रहे घातक नुकसान के सवाल, इनसे जितने लोगों को बिजली, विकास व रोजगार मिलेगा उससे कहीं बड़ी संख्या में लोग बेघर और आजीविका-विहीन होंगे यह सवाल, देश में परमाणु सुरक्षा के लिए स्वतंत्र व विश्वसनीय ढांचा न होने का सवाल, स्थानीय समुदायों के लोकतांत्रिक हितों का सवाल, ऊर्जा तथा परमाणु मामलों के उन विशेषज्ञों के सवाल जिनमें से कई सरकार का हिस्सा रहे हैं और देश-विदेश में प्रतिष्ठित हैं - इन सारे का सरकार के लिए कोई मतलब नहीं क्योंकि उसके लिए परमाणु संयंत्रों का आयात विदेशनीति के लेन-देन से जुड़ा है। 2005 में अमेरिका और उसके बाद फ्रांस, रूस, कनाडा, ब्रिटेन, कज़ाखिस्तान, मंगोलिया, आस्ट्रेलिया जैसे सभी देशों से हुई इन परमाणु डीलों से बंधे होने की वजह से दरअसल भारत ने वह संप्रभुता खो दी है, जिसका

इस्तेमाल कर के दूसरे देश फुकुशिमा से सबक लेकर स्वतंत्र और वैकल्पिक ऊर्जा नीति बना रहे हैं।

एक आखिरी बात यहां जोड़ना ज़रूरी है कि आम समझ या अपेक्षा के ठीक विपरीत, भारत के संसदीय वामपंथ ने अमेरिका के साथ हुए परमाणु डील की इसलिए आलोचना नहीं की थी कि इससे भारत की ज़मीन पर खतरनाक परमाणु संयंत्र आएँगे। सीपीएम की आलोचना का मुख्य स्वर यह था कि इस डील के बदले भारत का भविष्य में परमाणु टेस्ट करने का विकल्प चला जाएगा, इस डील में बाकी तकनीकें मिल रही हैं लेकिन परमाणु ईंधन के पुनर्संस्करण (reprocessing) की तकनीक नहीं मिल रही है, आयातित रिएक्टरों (अणु बिजलीघरों) पर अंतर्राष्ट्रीय निगरानी होगी, इत्यादि इत्यादि।

जैतापुर, मीठीविर्दी और कोवाडा जैसे जगहों के किसान और मछुआरे मध्यवर्ग के उस सपने की मार झेल रहे हैं जिसमें भारत को सुपर पावर बनना है। इतना सबकुछ कर के भी वह हैसियत मिलती दिख नहीं रही क्योंकि जार्ज बुश के दौर से दुनिया आगे बढ़ चुकी है। जिन परमाणु बमों से भारत की ताकत बढ़नी थी, उनके एवज में देश ने ये खतरनाक और महंगे बिजलीघर खरीदना मंजूर किया है और अब उनमें दुर्घटना की स्थिति में विदेशी कंपनियों को मुआवजा न देना पड़े इसकी जुगत में लगी है सरकार। हैसियत और ताकत बम बनाने से नहीं आती। एक तीसरी दुनिया का देश जब शार्टकट इस्तेमाल कर के पहली दुनिया में घुसना चाहता है जबकि आधी से अधिक आबादी दो सदी पीछे जी रही हो, तो यही गत होती है जो भारत की अब हो रही है। प्रधानमंत्री मेगा शो करने वाले फूहड़ नौटंकीबाज़ में तब्दील हो गया है।

परमाणु बम बनाने के बाद कोई शांति नसीब नहीं हुई बल्कि असुरक्षा का एक दुष्काल शुरू हुआ है और एटम बम बनाने के डेढ़ दशक बाद भारत दुनिया में सबसे अधिक हथियार खरीदने वाला देश बन बैठा है। परमाणु बमों को लेकर झूठे गर्व और भ्रम पर चर्चा किसी और लेख में।

फिलहाल यह कि जापान के साथ समझौता 2005 से बन रही उस तस्वीर का आखिरी और निर्णायक टुकड़ा है क्योंकि जापानी पुर्जों की आपूर्ति के बगैर भारत में अमेरिकी और फ्रांसीसी परियोजनाएं अटकी पड़ी हैं। देश के किसानों-मछुआरों जीविका और

ज़िंदगी बचाने का यह आखिरी मौका है और बात सिर्फ उन्हीं की नहीं है क्योंकि परमाणु दुर्घटना में सिर्फ वे ही नहीं मरेंगे।

यह अटकी हुई डील जैतापुर, मीठी विरदी और कोवाडा के किसानों के लिए आखिरी उम्मीद है क्योंकि उनकी अपनी सरकार उनको दगा दे चुकी है और बिजली और विकास के पीछे पागल देश का मध्यवर्ग उन्हें भूल चुका है। जैतापुर में 2006 से किसानों और मछुवारों का संघर्ष जारी है, जिसमें 2010 में एक शांतिपूर्ण जुलूस के दौरान पुलिस फायरिंग में एक युवक की जान तक जा चुकी है। पूरे इलाके की नाकेबंदी, स्थानीय आंदोलन के लीडरों को पकड़कर हफ्तों जेल में डालना, धमकाना-फुसलाना, और आस-पास के जिलों से पहुंचने वाले सामाजिक कार्यकर्ताओं को जिलाबंदर घोषित करना कांग्रेस-एनसीपी की सरकार में भी हुआ और अब महाराष्ट्र की भाजपा सरकार में भी जारी है। परियोजना का विरोध करने वाले सभी लोग बाहरी और विदेशी-हित से संचालित घोषित कर दिए गए हैं और फ्रांसीसी कंपनी एकमात्र इनसाइडर और देशभक्त बची

है। 2010 में देश के दूसरे इलाकों से समर्थन में पहुंचकर सामाजिक कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों ने एक यात्रा निकाली जिसमें पूर्व नौसेनाध्यक्ष एडमिरल रामदास और सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश जस्टिस सावंत भी शामिल थे, लेकिन सबको हिरासत में ले लिया गया। जैतापुर में किसान ज्यादातर हिन्दू हैं और मछुआरे मुस्लिम। जिन किसानों के नाम ज़मीन थी कम-से-कम उनको मुआवजा मिला लेकिन उन मछुआरों को कुछ नहीं मिला क्योंकि उनके पास समंदर का कोई कागज़ नहीं है। परमाणु प्लांट से जो गर्म अपशिष्ट पानी निकलेगा वह आस-पास के समुद्री तापमान को 5 से 7 डिग्री बढ़ा देगा जिससे मछलियों की खेप समाप्त हो जाएगी। इस संवेदनशील प्लांट के आस-पास समुद्र में जो 5 किमी तक जो सेक्यूरिटी तैनात होगी वह भी साखरी नाटे और कई दूसरे मछुआरे गाँवों की जीविका छीन लेगी क्योंकि उस दायरे में मछली पकड़ना बंद हो जाएगा। शिवसेना और भाजपा का उस इलाके में राजनीतिक प्रभुत्व है और इस मामले को हिन्दू-मुस्लिम बना देने की कोशिश भी वे कर ही रहे हैं। ●

वार्ता यहाँ से प्राप्त करें

सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिषद, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-221002, फोन- 09415222940
 विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो0 कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखण्ड-828116, फोन- 09835131638
 लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओड़िशा-768028, फोन- 09437056029
 अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्यसाहित्य, कन्हौली, शारदा नगर, पो0 आर.के. आश्रम, बेला, मुजफ्फरपुर-845401
 नवलकिशोर प्रसाद एड, छोटा बरियापुर, वार्डनं0 38, पो0 सिविल कोर्ट, मोतीहारी, बिहार-845401, मो.09430947277
 चन्द्रभूषण चौधरी, भारतीय अस्पताल, कांकर चौक, हजारीबाग रोड, राँची, झारखण्ड-834001, फोन-09006771916
 रामजनम, सर्वोदय साहित्य भण्डार, प्लेटफार्म नं0 4, वाराणसी कैण्ट स्टेशन, वाराणसी-221002, फोन-8765619982
 अमरेन्द्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, पो0 बेतिया, बिहार-845438, फोन-09031670370
 चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पाण्डेहवेली, वाराणसी-221001, फोन-0542-2454257
 दिनेश शर्मा, डी. 68, ए-ब्लॉक, खूँटाडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखण्ड-831011, फोन-09431703559
 इकबाल अभिमन्यु, कमरा नं02 एक्स. ब्रह्मपुत्र छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067
 मो.9013002488
 मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो0 रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार-845106
 रोशनाई प्रकाशन, 212 सी.एल./ए., अशोक मित्र रोड, काँचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प0 बंगाल-743145,
 फोन-033-2585024
 फागराम, जनपद सदस्य, ग्रा0 भुमकापुरा, पो0 केसला, वाया इटारसी, जिला होशंगाबाद, म.प्र.-461111
 फोन07869717160
 गोपाल राठी, गौशाला परिसर सांडिया रोड, पिपरिया, जिला- होशंगाबाद, म.प्र. फोन-09425608762
 तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कॉम्प्लेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इन्दौर-452003, फोन-09826011413

क्या निर्भया इतने भर से सुरक्षित रहेगी?

प्रियदर्शन

संसद ने जुवेनाइल जस्टिस ऐक्ट यानी किशोर न्याय कानून पर मुहर लगा दी है। अब नए कानून के मुताबिक संगीन जुर्मों के मामले में 16 साल के ऊपर के लड़कों पर भी आम अदालतों में मुकदमा चलाया जा सकेगा- बशर्ते जुवेनाइल जस्टिस बोर्ड इसकी इजाज़त दे दे। यानी जुवेनाइल जस्टिस बोर्ड अपराध की गंभीरता और आरोप के घेरे में आए नाबालिग की मानसिक उम्र देखते हुए तय करेगा कि उसके लिए नाबालिग बोर्ड की ज़रूरत है या फिर आम अदालतों की। दरअसल 16 दिसंबर 2012 को दिल्ली में हुए एक गैंगरेप के बाद देश भर में जो आंदोलन चला, उसकी एक लोकप्रिय मांग यह थी कि नाबालिगों की उम्र 18 से घटा कर 15 या 16 साल की जाए। क्योंकि इस मामले के पांच आरोपियों में जिसे सबसे बड़ा मुजरिम बताया जा रहा था, वह नाबालिग था और इसी दिसंबर में तीन साल की सज़ा काट कर छूट गया। उसकी रिहाई के वक़्त दुबारा चले आंदोलन ने सरकार और राजनीतिक दलों को मजबूर किया कि वे लोगों की आवाज़ सुनें और जुवेनाइल जस्टिस ऐक्ट में संशोधन का यह कानून पास करें। तो अब कानून बन गया है, लेकिन इस बात पर विचार करना ज़रूरी है कि क्या इस कानून के बाद निर्भया जैसी लड़कियां वाकई सुरक्षित रहेंगी।

इसमें शक नहीं कि 16 दिसंबर 2012 की रात दिल्ली की एक चलती बस पर एक युवा लड़की के साथ जिस तरह सामूहिक बलात्कार और वधशी व्यवहार हुआ- उसके ब्योरे सबके रोंगटे खड़े करते रहे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे वीभत्स अपराध के मुजरिमों के प्रति एक तरह की घृणा पैदा हो। 16 दिसंबर 2012 के तत्काल बाद इस वारदात पर हुई देशव्यापी प्रतिक्रिया से लेकर इसके एक नाबालिग मुजरिम को छोड़ने को लेकर पैदा हुए ताज़ा गुस्से तक को इस सामूहिक भावना का उचित विस्फोट कहा जा सकता है। लेकिन एक मुजरिम को दंड देने की सामूहिक भावना के बीच भी यह खयाल रखना ज़रूरी है कि हमारा क्रोध न्याय के विवेक की जगह न ले ले, कि अपने गुस्से में हम कहीं ऐसे निष्कर्षों तक न पहुंच जाएं जो आने वाले दिनों में पलट कर नए अन्यायों की वजह बन जाएं।

क्योंकि 16 दिसंबर के बाद स्त्री सुरक्षा को लेकर

चली बहसों ने अनजाने और अनायास ही 'जुवेनाइल' को जैसे एक गंदा शब्द बना दिया है। सारी बहस जैसे यहां आकर ठिठक गई है कि 'जुवेनाइल' की उम्र घटाई जाए- जैसे स्त्री अपराधों के लिए ये किशोर ही सबसे बड़े जिम्मेदार हों, जैसे इस देश के बालिगों के इस देश के नाबालिगों से खतरा हो।

लेकिन हकीकत क्या वाकई इतनी खौफनाक है? क्या जुवेनाइल या किशोर उम्र के बच्चे इतने अपराध करते हैं कि उनकी उम्र राष्ट्रीय बहस का इकलौता सवाल बनती दिखे? ठोस आंकड़े कुछ और कहानी बताते हैं। भारत की आबादी में 35 फ़ीसदी हिस्सा जुवेनाइल यानी 18 साल से नीचे के किशोरों का है। जबकि 2014 के आंकड़े बताते हैं कि अपराध में उनका हिस्सा महज 1.2 प्रतिशत का है। यानी जितने नाबालिग अपराध करते हैं, उससे ज़्यादा वे अपराध झेलते हैं। और इन अपराध करने वाले नाबालिगों की पृष्ठभूमि में जाएं तो पता चलता है कि सामाजिक तौर पर कई गंभीर अपराधों के शिकार ये भी होते हैं। बाल अधिकारों के लिए काम कर रहे हर्षमंदर ने बहुत उचित ही यह लिखा है कि दरअसल नाबालिगों को बालिगों से बचाने की ज़रूरत है। सवाल है, महिलाओं के खिलाफ़ सबसे ज़्यादा अपराध कौन करता है। आंकड़े जो जवाब देते हैं, उनके मुताबिक चालीस पार की उम्र के लोग। जाहिर है, जुवेनाइल की बहस में वे असली अपराधी छुप जाते हैं जिनकी वजह से महिलाओं का सड़क पर चलना, दफ़्तर में काम करना और यहां तक कि घर में रहना भी दूभर हो जाता है।

लेकिन हम यह देखने को तैयार नहीं होते क्योंकि एक बहुत मुश्किल लड़ाई के आसान तरीके और आसान शिकार खोज कर आंदोलन और इंसाफ़ करने बैठ जाते हैं। इससे यह संदेह होता है कि क्या हम वाकई बलात्कार या महिला अपराध को लेकर इतने संवेदनशील हैं जितना दिखने की कोशिश कर रहे हैं? हमारे लिए 16 दिसंबर का गैंगरेप बस एक प्रतीक भर है जिसके मुजरिमों को जेल से न निकलने देकर हम यह तसल्ली पाल लेंगे कि इंसाफ़ हो गया और लड़कियां अब सुरक्षित हैं। जबकि सच्चाई यह है कि 16 दिसंबर के बाद भी बलात्कार या यौन शोषण से जुड़े

अपराधों में कमी नहीं आई है- कहीं छोटी बच्चियां तो कहीं बुजुर्ग महिलाएं इस वहशत की जद में हैं। 16 दिसंबर 2012 की तारीख ब्रेशक इस लिहाज से अहम है कि इस दिन घटी एक त्रासदी को भारतीय महिलाओं ने अपने साथ हो रहे अपराध की एक बड़ी स्मृति में बदला और वह ज़रूरी बहस खड़ी की जिसके बाद बलात्कार या यौन उत्पीड़न की शिकार लड़कियां खुलकर सामने आ रही हैं, अपनी शिकायत दर्ज करा रही हैं।

लेकिन यह काफी नहीं है। यह समझना भी ज़रूरी है कि बलात्कार इस देश में सामाजिक उत्पीड़न और राजनीतिक दमन तक का हथियार है। दबंग और आर्थिक तौर पर ताकतवर जातियां दलित और कमज़ोर पृष्ठभूमि से आई लड़कियों को बार-बार इसका शिकार बनाती रही हैं जिस पर कहीं कोई नाराज़गी नहीं दिखती। झारखंड और छत्तीसगढ़ से लेकर पूर्वोत्तर और कश्मीर तक ऐसे ढेर सारे अभियोग हैं जो बताते हैं कि सुरक्षा के नाम पर, राजनीतिक दमन के लिए, लड़कियां बलात्कार की शिकार बनाई जाती रहीं। छत्तीसगढ़ की सोनी सोरी ने जो कुछ झेला, वह निर्भया से ज़रा ही कम था- लेकिन सोनी सोरी पर नक्सली होने की मुहर लगाई गई, शायद इसीलिए सबने मान लिया कि उसके साथ जो हुआ, वह जायज़ हुआ। अगर नहीं तो जंतर-मंतर पर वह भीड़ उसके लिए क्यों नहीं उमड़ी जो निर्भया के लिए उमड़ी?

इस पूरी बहस में एक पक्ष उस तथाकथित आधुनिकता का है जो बाज़ार बना रहा है। बाज़ार ने बड़े निर्मम ढंग से स्त्री को सिर्फ देह में और उसकी देह को बस वस्तु में बदल डाला है। जो फिल्में बन रही हैं, जो विज्ञापन बन रहे हैं, जो बाज़ार का पूरा तामझाम बन रहा है, वह स्त्री देह को आखेट बनाकर हो रहा है। पिछले दिनों पटना में मीडिया में स्त्रियों को लेकर चल रही दो दिन की एक कार्यशाला के दौरान अभिनेत्री सोनल झा ने किसी टीवी चैनल पर चल रहे क्रिकेट मैच के बाद के एक आयोजन का जिक्र किया जिसमें एक स्टार खिलाड़ी तो पूरे सूटबूट में बात कर रहे थे लेकिन उनसे जो महिला बात कर रही थी, वह बिल्कुल खुले परिधानों में थी। जाहिर है, क्रिकेट की चर्चा में भी लड़की के क्रिकेट-ज्ञान से ज्यादा अहम उसका ग्लैमरस दिखना है। यह अनायास नहीं है कि इन दिनों बड़ी तेजी से दुनिया भर में फूल-फल रहे पर्यटन उद्योग के नाम पर सबसे ज़्यादा 'सी, सन और सेक्स' बेचा जा रहा है। इक्कीसवीं सदी में औरत की तस्करी का कारोबार ऐसे ग्लोबल आयाम ले चुका है, जैसा पहले किसी सदी ने देखा न हो।

तो एक तरफ़ स्त्री को लगातार हेय और उपभोग्य और कमतर बनाती बाज़ार-प्रेरित तथाकथित आधुनिकता है जो उसे सामान में बदलती है और दूसरी तरफ सामाजिक, आर्थिक और मर्दवादी आधार पर उसका लगातार उत्पीड़न कर रही परंपरा है, जो उसकी आज़ादी को उसकी बदचलनी की तरह देखती है- इन दोनों के बीच अगर कोई निर्भया अकेली निकलती है तो वह बस इसलिए असुरक्षित नहीं होती कि कुछ खूंखार किस्म के लड़के उसके पीछे लग जाते हैं, वह इसलिए भी असुरक्षित होती है कि इस आधुनिकता ने उसे सामान बना डाला है और परंपरा ने उसे बदचलन ठहरा दिया है- उस पर हमला आसान होता है, वह एक आसान शिकार होती है। निर्भया के मामले में शिकारियों की हैसियत अगर कुछ बड़ी होती, अगर वे किन्हीं बड़े घरों के बेटे होते तो कहना मुश्किल है कि वे उतनी आसानी से पकड़े जाते जितनी आसानी से ये बस ड्राइवर, क्लीनर या फल विक्रेता पकड़े गए।

बहरहाल, इस बहस के आखिरी सिरे पर लौटें- उस खूंखार नाबालिग तक जो समाज के लिए सबको खतरा लग रहा है। हो सकता है, वह खतरा हो, लेकिन फिर यह सवाल पूछना ज़रूरी हो जाता है कि आखिर बाल सुधार गृह में उसके बिताए तीन सालों के दौरान वाकई उसको सुधारने की कोशिश क्यों नहीं हुई? क्योंकि हमारी जेलों की तरह हमारे बाल सुधार गृह भी अपराध छुड़ाने के नहीं, अपराधी बनाने के कारखाने हैं। बाल सुधार गृहों की अपनी एक हकीकत है जिसे देखकर कोई न्यायप्रिय व्यवस्था शर्मसार हो जाए। अगर ऐसा नहीं होता, बाल सुधार गृह वाकई बाल सुधार गृह होते तो इस नाबालिग मुजरिम को वे कुछ बदलते। लेकिन यह सोच शायद वहां विकसित ही नहीं हो पाई। दरअसल हमारे नाबालिग मुजरिम हमारी अपनी सामाजिक विफलताओं की संतानें हैं। हम इस विफलता को पहचानने और स्वीकार करने की जगह ऐसा दिखावा कर रहे हैं जैसे इस मुजरिम को कुछ और सज़ा देकर हम अपनी निर्भयाओं को बचा लेंगे। जबकि लड़ाई की यह मुद्रा उस वास्तविक लड़ाई से काफी दूर ही नहीं, उसके विरुद्ध भी खड़ी है जो निर्भयाओं को एक गरिमापूर्ण और सुरक्षित जीवन देने के लिए ज़रूरी है। क्योंकि अंततः एक स्त्री के सम्मान के लिए अपरिहार्यतः एक व्यापक मानवीय समाज का होना ज़रूरी है जो अपनी लड़कियों की भी फिक्र करे, अपने नाबालिगों और बच्चों की भी। जुवेनाइल जस्टिस ऐक्ट अपनी जगह काम करेगा, लेकिन समाज के विवेक को भी जागना होगा।

काला धन की चुनौती : भारत के कदम पीछे

अरुण कुमार

तुर्की में आयोजित जी 20 देशों के सम्मेलन में प्रधानमंत्री ने बैंकों की अत्यधिक गोपनीयता को खत्म करने की जरूरत पर बल दिया एवं अवैध धन को उनके मूल देशों में वापसी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की माँग की। यह सिर्फ विचार के स्तर पर है, इससे बैंकों की गोपनीयता खत्म होने वाली नहीं है। इस बात का उन 90 टैक्स हैवेन (वे देश जो टैक्स चोरी के लिए सुरक्षित शरणस्थली होते हैं) के लिए कोई खास अर्थ नहीं है, जो विभिन्न स्तरों पर बैंकिंग गोपनीयता रखते हैं अथवा कर की दरें कम रखते हैं। और इनमें से अधिकांश विकसित देशों में हैं। क्या बैंकिंग गोपनीयता के आंशिक रूप से खत्म होने के बाद भी ऐसी व्यवस्था नहीं बनी रह जायेगी, जिससे अवैध धन का निर्गमन होता रहेगा? क्या बैंकिंग की दुनिया में पूर्णतः पारदर्शिता के लिए प्रयास किया जा रहा है?

बैंक, खास तौर से टैक्स हैवेन में स्थित बैंक बैंकिंग गोपनीयता के आधार पर अपने ग्राहकों के बारे में सूचना देने से मना कर देते हैं। इससे ऐसे लोगों की मदद होती है, जो गलत तरीके से धन कमाते हैं और जाँच एजेंसियों की नजर से बचना चाहते हैं। इस तरह बैंकिंग गोपनीयता से दुनिया में अवैध कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह के अवैध कार्यों में नशीले पदार्थों की तस्करी, अवैध मत्स्य व्यापार, आतंकी संगठनों को वित्तीय मदद जैसे कार्य हैं। वित्तीय कार्रवाई कार्य बल (एफ.टी.एफ.) ने कहा है कि अवैध धन की खोज करना भूसे में सुई की खोज करने के बराबर है। एक देश से दूसरे देश को धन भेजने के लिए स्विफ्ट (SWIFT) जैसे इलेक्ट्रॉनिक साधन उपलब्ध हैं। संदिग्ध अंतरण को पकड़ने के लिए समय-समय पर साफ्टवेयर विकसित किए गए लेकिन वे विफल ही रहे।

नकली व्यापार अथवा स्टॉक एवं बांड में रोज खरबों डॉलर का वित्तीय लेन-देन होता है। रोज का अवैध धन इस राशि के एक प्रतिशत के बराबर भी नहीं होता। अवैध धन के अंतरण को छिपाने के लिए तंत्र बना हुआ है। अमरीकी राष्ट्रपति ओबामा ने इस बात का उल्लेख किया कि टैक्स हैवेन के एक स्थान से हजारों कंपनियाँ चलती हैं। ऐसी नकली कंपनियाँ हैं जो दुनिया भर में विभिन्न टैक्स हैवेन के

बीच धन अंतरण का कार्य करती हैं अंततः धन वहाँ पहुँचता है, जहाँ जमा हो जाता है। इसीलिए प्रधानमंत्री ने वित्तीय बाजार पर नियंत्रण के लिए जटिल विधिक एवं नियामक उपायों पर बल दिया।

अनेक बैंक लोगों को अवैध धन छिपाने अथवा कर अपवंचन करने में मदद करते हुए पकड़े गए हैं। स्विस् बैंक जूलियस बार के रूडोल्फ एमर का भी मामला सामने है, जिन्होंने बैंक का डाटा चुराया और जूलियन असात्रे को दिया। एमर स्विस् प्राधिकारियों द्वारा गिरफ्तार किए गए और जूलियन असात्रे ने डाटा का खुलासा भी नहीं किया।

गोपनीय बैंकिंग क्षेत्र में डाटा की चोरी ही वह महत्वपूर्ण तरीका है, जिससे खाताधारकों की पहचान की जा सकती है अथवा उनके बारे में सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। लीटेन्सटीन के एल.जी.टी. बैंक एवं स्विट्जरलैंड के एच.एस.बी.सी. में ऐसा कार्य हुआ है। पहले मामले में एल.जी.टी. के क्लेब ने चुराए गए डाटा को 40 लाख यूरो में 2007 में जर्मन सरकार को बेचा। जर्मनी ने बिना किसी शुल्क के ये नाम उजागर किए। दूसरी सरकारों ने सूची को लेकर कानूनी कार्रवाई शुरू कर दिया, वहीं भारत सरकार ने लेने से इनकार कर दिया। बाद में न्यायालय के दबाव से भारत ने सूची को स्वीकार किया, जाँच शुरू किया, लेकिन असामान्य देरी के चलते कोई फायदा नहीं हुआ।

हर्व फेलिसियानी ने एच.एस.बी.सी. से डाटा चुराया और 2008 में इसे फ्रांस सरकार को देने का प्रस्ताव किया। भारत तब तक इस डाटा को लेने से इनकार करता रहा, जब तक न्यायालय का दबाव नहीं पड़ा। प्रारम्भ में 627 नाम सामने आए। दोहरा कराधान बचाव समझौता (डीटीएए) के परिप्रेक्ष्य में यह बहस उठी कि गोपनीयता की शर्त के कारण सूची को जनसामान्य की जानकारी में नहीं लाया गया। लेकिन इस तर्क का कोई मतलब नहीं था।

न तो एलजीटी के मामले में न ही एच एस बी सी के मामले में डी टी ए ए को कोई प्रासंगिकता थी, क्योंकि यह डाटा दोनों देशों में से किसी देश में आय से संबंधित नहीं था। एल जीटी मामला लीटेन्सटीन में खाते से संबंधित था

जो न भारत में है, न जर्मनी में। इसी प्रकार एच एस बी.सी. मामला नहीं था, बल्कि तीसरे देश में संपत्ति धारण करने का मामला था। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि यह चुराये गए डाटा का मामला था, न कि जर्मनी अथवा फ्रांस सरकार द्वारा सरकारी तौर पर प्राप्त किया गया डाटा था। लेकिन यूपीए एवं एनडीए दोनों ही सरकारों ने नामों का उद्घाटन नहीं किया। सर्वोच्च न्यायालय ने जेठमलानी एवं अन्य के मामले में एसआईटी के गठन के लिए आदेश दिया था, लेकिन मई 2014 तक इसका गठन नहीं किया गया। गठन के एक वर्ष बाद भी यह स्पष्ट नहीं है कि भारतीय काला धन पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।

फेल्लिसयानी ने इस बात का उल्लेख किया है कि केवल एक प्रतिशत नाम जारी किए गए। सरकार ने आगे नाम प्राप्त नहीं किया। आईसीआईजे के पत्रकार ने इस बात का खुलासा किया कि 500 नामों की दूसरी सूची भी है। दो सूचियों में प्राप्त 1.150 नाम इस लिहाज से नाकाफी हैं कि लाखों की संख्या में धनी भारतीयों का पैसा विदेशों में जमा है। बैंक आफ बड़ौदा मामले के सामने आने के बाद तो यह साफ हो गया है कि भारतीय बैंक भी इस तरह के कार्यों में लिप्त हैं। सरकार नाम प्राप्त करने का कोई प्रयास नहीं कर रही है, उल्टे संसद में प्रस्तावित संशोधन विधेयक के माध्यम से भ्रष्टाचार का को सामने लाने वालों (वीसिल ब्लोअर) की सुरक्षा को भी कम कर रही है।

अमरीका में बर्केनफेल्ड यूबीएस का मामला इसके विपरीत है। बर्केनफेल्ड स्विट्जरलैंड और अमरीका के बीच नियमित यात्रा करते थे। अमरीका की आई आर एस द्वारा उनका पीछा किया गया और उनकी गतिविधियों के बारे में सूचनाएँ एकत्र की गईं। यह पाया गया कि वे यू बी एस के लिए कार्य कर रहे हैं और अमरीकी आयकर अधिकारियों को धोखा देने में वहाँ के नागरिकों की मदद कर रहे हैं। वे पके गए। यू बी एस एवं उन पर 2007 में मुकदमा चलाया गया। स्विट्जरलैंड की सरकार ने कहा कि यू बी एस के खिलाफ कार्रवाई से दुनिया का वित्तीय तंत्र खत्म हो जाएगा। उन्होंने यू बी एस में अमरीकी खाताधारकों के 52,000 नामों को उद्घाटित करने की आई आर एस की माँग को निरर्थक कहा। न्यायालय के इस तर्क को खारिज कर दिया और सरकार को बैंक का अधिग्रहण करने का आदेश देने की चेतावनी दी। तुरंत ही यू बी एस 7800 लाख डालर का जुर्माना भरने के लिए सहमत हो गया एवं 4500 खाताधारकों का नाम जारी किया। अमरीकी एजेंसियाँ अपने पूर्व उपायों के कारण सफल हुईं। भारत

सरकार यह कह रही है कि डी टी ए ए (डबल टैक्सेशन एवायडेंस एग्रीमेंट) एवं टी.आई.ई. से विदेशों में जमा धन के खाताधारकों का नाम जानने में मदद मिलेगी। लेकिन ऐसा नहीं है। पहला दोहरा कराधान बचाव समझौता 1990 में किया गया था, लेकिन इसके अन्तर्गत एक भी नाम सामने नहीं आया। चोरी किए गए डाटा से ही नाम सामने आ पाया। इसकी उम्मीद इसलिए भी नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि डीटीएए सही आय के लिए है, अधोषित गलत कमाई के लिए नहीं। इस प्रकार टी आई ई भी केवल घोषित आय के बारे में है।

इसीलिए बैंकिंग गोपनीयता के संबंध में प्रधानमंत्री का वक्तव्य स्वागतयोग्य तो है, लेकिन यह तब तक प्रभावी नहीं होगा, जब तक भारत सरकार अपने देश में दृढ़ता से इस समस्या के नियंत्रण के लिए कार्रवाई नहीं करती। अवैध धन के नियंत्रण में अभी तक नरमी ही बरती गई है। इसकी चर्चा रजनीतिक कारणों से एवं लोगों का ध्यान बँटाने के लिए ही की जाती रही है। आश्चर्य नहीं कि जो काला धन 1955-56 में सकल घरेलू उत्पाद का 4-5 प्रतिशत था, आज बढ़कर 60% हो गया है।

एच.एस.बी.सी. मामला सरकार की निष्क्रियता का स्पष्ट उदाहरण है। इस बात के प्रमाण हैं कि एच.एस.बी.सी. हवाला के संचालन में शामिल रहा है, लेकिन भारत में उसके ऊपर कोई मुकदमा नहीं चलाया गया। उसने भारत में अपने संचालन को बंद भी नहीं किया। अन्य बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और भारतीय बैंक लोगों को सेवा देने के नाम पर इसी तरह का कार्य कर रही हैं। हाल में ही इस.जी.एफ.एक्स. फाइनेंशियल का मामला सामने आया है। पाँच महीने में इसकी संपत्ति सात लाख पाउंड से बढ़कर 70 अरब पाउंड हो गई। इस मामले में पवार का नाम भी लिया गया लेकिन उन्होंने इसे चुनौती की।

बैंकिंग गोपनीयता खत्म करने की आवश्यकता है, लेकिन भारत ने ऐसा नहीं किया। हसन अली मामले में यू.बी.एस. को शामिल पाया गया, लेकिन वह अभियोग से बच गया। व्यवसाय की अपनी कुछ गोपनीयता हो सकती है, लेकिन उसकी आय गोपनीय नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कराधान के कारण यह जन सामान्य से जुड़ा मुद्दा है। इसी तरह बैंको को भी जमा एवं जमाकर्ताओं के बारे में गोपनीयता बरतने की छूट नहीं दी जा सकती। इसलिए भारत में कार्रवाई किए जाने की जरूरत है, अन्यथा जी 20 सम्मेलन में व्यक्त किए गए विचारों का कोई अर्थ नहीं होगा। ●

माल एवं सेवा कर : महत्वपूर्ण मुद्दे

अरुण कुमार

भारत में कर सुधार के सबसे बड़े प्रयास के रूप में जी एस टी (माल एवं सेवा कर) विधेयक प्रस्तावित है। इस विधेयक को सबसे बड़ा कर-सुधार तथा परिवर्तनकारी माना जा रहा है। फिलहाल मुख्य विपक्षी पार्टी के कारण यह विधेयक राज्यसभा में रुका है। इसी पार्टी ने एक दशक पूर्व इसका प्रस्ताव किया था। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार ने विपक्षी दल की आपत्तियों को खारिज कर दिया है और वह विधेयक पारित कराने के लिए संसद का विशेष सत्र भी बुला सकती है। दुर्भाग्य से जी एस टी की अनेक मूलभूत बातों पर अभी चर्चा तक नहीं की गई है और न ही उसका समाधान बताया गया है। लोगों को इस संबंध में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए।

जी एस टी के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं। पहला है, उत्पाद, बिक्री एवं सेवा कर को संयुक्त करना। यह कहा जा सकता है कि सत्रह करों के स्थान पर एक कर लगाया जा रहा है, इससे व्यवसाय करना आसान हो जाएगा। दूसरा है, अप्रत्यक्ष कर की गणना मूल्यवर्धन पर किया जाएगा, माल अथवा सेवा के मूल्य पर नहीं। इससे कर पर कर एवं कर पर लाभ का सोपानी प्रभाव खत्म हो जाएगा। अंत में, न केवल प्रत्येक कर (उत्पाद, बिक्री, सेवा एवं ऐसे ही अन्य कर: का सोपानी प्रभाव खत्म होगा, बल्कि ये समाप्त हो जाएंगे। इससे कीमतों में कमी आने की संभावना है। बाकी स्थिति वैसी ही रहेगी। यह भी कहा जा रहा है कि इससे व्यवसाय करना आसान हो जाएगा, जिससे आर्थिक वृद्धि की दर बढ़ सकती है।

निःसंदेह इससे कर प्रणाली में सरलता आएगी, लेकिन उतनी नहीं, जितने का दावा किया जा रहा है। तीन प्रकार के कर होंगे— सी जी एस टी, जिसका संग्रह केन्द्र द्वारा किया जाएगा, एस जी एस टी, जिसका संग्रह राज्य द्वारा किया जाएगा और आई जी एस टी जो अन्तर्राज्य संचलन पर लिया जाएगा और संग्रह केन्द्र करेगा। इसके अलावा राज्यों के दबाव से एल्कोहल, तंबाकू एवं पेट्रोलियम सामानों को जी एस टी दायरे के बाहर रखे जाने की संभावना है। इसी प्रकार विद्युत एवं रियलइस्टेट व्यवसाय को भी जी एस टी के दायरे से बाहर रखा जा रहा

है। इन पर अलग से कर लगाया जाएगा। इसका सोपानी प्रभाव पड़ेगा।

यह भी गौर करने की बात है कि मूल्य वर्धन उत्पाद के मूल्य के केवल एक अंश पर ही किया जायेगा। इसलिए यदि कर की दरें पहले जैसी ही रहती हैं तो कर का संग्रह कम हो जाएगा। सरकार को यदि पहले जितना कर संग्रह करना है तो उसे कर की दरों में वृद्धि करना होगा। इसे रेवेन्यू न्यूट्रल दर (आर.एन.आर.) कहा जाता है और यह ज्यादा हो सकता है। कर उत्पादन एवं वितरण के प्रत्येक चरण पर एकत्र करना होगा। इसीलिए कर की दर सामान्य होने के बावजूद इसके संग्रह की प्रक्रिया जटिल बनी रहेगी। सेवाओं पर बिक्री कर नहीं लगेगा, लेकिन इन्हें राज्यों को एस जी एस टी देना होगा। इससे इतनी कीमतों में वृद्धि होगी। उदाहरण के लिए टेलीफोन काल, बीमा, परिवहन, रेस्तराँ इत्यादि सेवाएँ महँगी हो जाएगी। सामान्य दर सभी पर लागू होगी, जिससे मूलभूत एवं आवश्यक सामानों एवं सेवाओं की कीमतों में वृद्धि होगी। हालाँकि कुछ सामानों की अंतिम कीमतों में कमी आएगी, लेकिन कुल मिलाकर महँगाई दर में वृद्धि ही होगी।

यदि महँगाई दर में वृद्धि होती है तो आर्थिक माँग में कमी आएगी और वृद्धि दर भी गिर जाएगी। यह स्थिति जी एस टी समर्थकों द्वारा किए जा रहे दावों के विपरीत है। इससे बचने के लिए सरकार को आर.एन.आर. छोड़ना होगा और कर की दरों को कम रखना होगा। लेकिन इससे आज की तुलना में कर का संग्रह कम हो जाएगा और राज्यों के सामने परेशानी खड़ी हो जाएगी। तब केन्द्र और राज्य का घाटा बढ़ जाएगा। राज्यों के लिए यही चिंता का विषय है। यदि केन्द्र अपने वादे के मुताबिक राज्यों के घाटे की भरपाई करता है तो केन्द्र का घाटा इतना अधिक हो जाएगा कि उसे दूसरी तरह की समस्याओं का सामना करना होगा।

जी एस टी लागू करने की दौड़ में व्यापक आर्थिक मुद्दों पर न तो चर्चा की गई, न ही इनका समाधान निकाला गया। लघु उद्योग एवं असंगठित क्षेत्र के हितों को भी नजरअंदाज किया गया है। लघु उद्योग क्षेत्र में उत्पादन एवं बिक्री स्थानीय स्तर पर किया जाता है, इसलिए एकीकृत

बाजार इत्यादि का लाभ इन्हें मुश्किल से ही मिलेगा। इन्हें जी एस टी के भुगतान से छूट प्रदान की जा रही है, इसलिए ये संगठित क्षेत्र से किसी खरीद के लिए ऋण इत्यादि का लाभ नहीं ले सकेंगे और यह उनके लिए नुकसानदायक होगा। यदि ये संगठित क्षेत्र को विक्रय करेंगे तो मुआवजे का लाभ नहीं ले सकेंगे। इन्हें या तो अपना मूल्य घटाना होगा या इनकी बिक्री कम हो जाएगी। लघु उद्योग एवं असंगठित क्षेत्र में कमी से रोजगार के अवसर में भी कमी आएगी, क्योंकि इन क्षेत्रों में काफी लोगों को रोजगार मिलता है।

आलू-चिप्स अथवा ठोंगा अथवा लिफाफा-निर्माण का उदाहरण सामने है। बड़े उद्योगों ने क्षेत्र से कुटीर उद्योग को बाहर कर दिया। इसके अतिरिक्त किसी 'हॉट को देखें, जहाँ मॉल अथवा स्थायी दुकानों पर बिक रहे सामानों का ही सस्ता प्रतिरूप बेचा जाता है। यहाँ गरीब, निम्न एवं मध्यम उत्पादों की खरीद करते हैं। इस तरह के उत्पाद भी विस्थापित कर दिए जाएँगे।

मूल्य संवर्धित कर (वैट) लागू करने में कठिनाई है, क्योंकि इसके लिए निवेश (जिससे क्षतिपूर्ति का दावा किया जा सके) एवं बिक्री से प्राप्त राजस्व दोनों खातों को रखना होगा। लघु एवं कुटीर उद्योग विस्तृत खाता नहीं रखते हैं और यह भी गणना नहीं कर सकते कि कितना वैट का भुगतान किया जाए। यही कारण है कि वैट के लिए कम्प्यूटरीकरण आवश्यक है, जिसका खर्च उठाने में लघु एवं कुटीर उद्योग सक्षम नहीं हैं।

इन्हीं सब कठिनाइयों के कारण 1970 के दशक में वैट नहीं लाया जा सका। 1978 में अप्रत्यक्ष कर सुधार समिति ने केवल निर्माण पर मैनवैट (MANVAT) का सुझाव दिया। इसे लागू नहीं किया जा सका क्योंकि निर्माण के क्षेत्र में बड़े पैमाने पर असंगठित क्षेत्र हैं। 1986 में दीर्घकालिक वित्तीय नीति ने मॉडवैट (MODVAT) का सुझाव दिया था। इसे क्रमशः लागू किया जाना था। एक दशक बाद इसके स्थान पर सेनवैट (CENVAT) लागू होना था। इसे लागू करने के क्रम में कठिनाइयाँ महसूस की गईं। इन्हीं कठिनाइयों के कारण यह दावा भी कमजोर पड़ गया कि वैट (VAT) के अन्तर्गत सुधार होगा तथा काला

धन में कमी आएगी। जी एस टी के अन्तर्गत कर की दरें सभी राज्यों के लिए समान हैं। इससे वित्तीय संघवाद कमजोर पड़ेगा। हर राज्य की जरूरतें अलग-अलग हैं। महाराष्ट्र की जरूरतें आसाम से अलग हैं। स्रोत स्थान की जगह गंतव्य स्थान पर कर लगाने की प्रणाली से निर्माता राज्य राजस्व की क्षति को लेकर चिंतित हैं, जिसे दूर करने के लिए आई.जी.एस.टी का प्रस्ताव किया गया है। हालाँकि राज्यों के बीच एक सहमति बन गई है और वे अपना अधिकार छोने के लिए तैयार हैं, लेकिन संघवाद के कमजोर पड़ने का दूरगामी प्रभाव होगा, जो तत्काल दिखाई नहीं पड़ेगा। स्थानीय निकाय संघीय ढाँचे का तीसरा चरण है। इस व्यवस्था में इन्हें पूरी तरह छोड़ दिया गया है।

भारत में जी एस टी लागू करने से संबंधित वास्तविक समस्याओं की न तो चर्चा की गई, न उनका समाधान निकाला गया। भारत में 93 प्रतिशत लोग असंगठित क्षेत्रों में लगे हैं। लघु एवं कुटीर उद्योग स्थानीय स्तर पर उत्पादन एवं बिक्री करते हैं। एकीकृत बाजार से ये घाटे में होंगे एवं बड़े उद्योग फायदे में होंगे इससे रोजगार की स्थिति और खराब होगी, कृषि क्षेत्र कमजोर होगा एवं इससे रोजगार की स्थिति और खराब होगी, कृषि क्षेत्र कमजोर होगा एवं गरीब राज्यों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जी एस टी का समर्थन भारत एवं दूसरे देशों में बड़े व्यवसायी ही मजबूती से कर रहे हैं। सौ से अधिक देशों में वैट लागू है, सिर्फ इसी से यह बात सच साबित नहीं होती कि इससे पूरे भारत में सभी को एक जैसा लाभ मिलेगा।

जी एस टी के लिए जितने तर्क दिए जा रहे हैं, उनमें गहरा विरोधाभास है। करों का संग्रह बढ़ेगा तो कर एवं सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात बढ़ेगा लेकिन तब कीमतें बढ़ेगी, माँग घटेगी एवं आर्थिक मंदी आएगी। इसके विपरीत यदि आर.एन.आर. छोड़ दिया जाता है तो कर-सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात भी गिरेगा और राज्यों के संसाधनों में कमी आएगी। अर्थशास्त्र के समग्र विश्लेषण से यह साफ हो जाता है कि दोनों ही दृष्टि से सरकार के तर्क अन्तर्विरोधी हैं। ●

पत्रिका नहीं, वैचारिक आन्दोलन
सामयिक वार्ता
 पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं, मित्रों को उपहार दें

लोकतंत्र, समाजवाद और कल्याणकारी राज्य या स्वराज

महेश विक्रम

(गतांक से आगे)

भाग दो

स्वतंत्रता, लोकतंत्र और समाजवाद का

उद्भव और प्रगति: पूर्वपीठिका

अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियाँ

मध्ययुग का सौन्दर्य और वैभव चाहे जो रहा हो परन्तु आधुनिक कहे गए इस युग में तर्क की पुनर्स्थापना तथा नए कल्याणकारी राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना, राजतंत्रों के विस्थापन, विश्व के सभी भागों में लोकतंत्र या कम से कम सांविधानिक व्यवस्थाओं की स्थापना के साथ आम लोगों के युग के आगमन में ज़रा भी सन्देह नहीं है। सम्पूर्ण 19वीं शताब्दी में प्रतिक्रियावादी राजतंत्रीय शक्तियों द्वारा इसको चुनौती दी जाती रही परन्तु अन्ततः यह लोकतंत्र ही था जो कमजोर सरकारों के हाथों में रहते हुए भी उसके नेताओं की उसके प्रति प्रतिबद्धता के कारण उस शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से फ्रांस के तृतीय गणतंत्र के रूप में और मजबूत होता गया। राष्ट्रीय राज्य की भूमिका से आगे बढ़ते हुए एक जन कल्याणकारी राज्य के उदय का अर्थ था, जनता की सरकार, जनता द्वारा, जनता के लिए। इसमें मताधिकार का लगातार विस्तार होता रहा था और अन्ततः हर वयस्क स्त्री और पुरुष प्रत्यक्षतः अपने जन-प्रतिनिधियों को चुनने और परोक्षतः राष्ट्र की नीति निर्धारण में भाग लेने का अधिकारी बनता गया था।

विचारों के स्वातंत्र्य एवं जीवन की स्थितियों में सुधार की उमंग के साथ ही नए वैज्ञानिक दृष्टिकोण और सिद्धान्तों और उसके तकनीकी प्रयोग की भी प्रगति हुई जिसने पहले ग्रेट ब्रिटेन और फिर योरोप और अमेरिका में वस्तुओं के निर्माण के लिए एक नए प्रकार की कारखाना प्रणाली को विकसित किया और 19वीं शताब्दी के पुर्वाद्ध से ही वहाँ आधुनिक औद्योगिक क्रांति ने भी आकार ग्रहण कर लिया। उत्पादन के नए स्वरूप एवं परिमाण के साथ ही अधिकाधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से शुरू हुआ कच्चे माल के स्रोतों और फिर निर्मित माल की खपत के लिए बाजार को हासिल करने का वह सिलसिला जिसने असुरक्षित या अकुशल रूप से शासित क्षेत्रों को खोजने और उनपर नियंत्रण करने का नया लोभ पैदा किया। ऐसे क्षेत्रों

और वहाँ के लोगों को साम, दाम, दण्ड और भेद किसी भी प्रकार कब्जे में रखने के इसी उपक्रम को नव-उपनिवेशवाद और नव-साम्राज्यवाद के नाम से जाना गया जिसके बड़े लक्ष्य अफ्रिका और एशिया ही थे। दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति से जुड़ते रहे पश्चिमी देशों की राष्ट्रीय सरकारों ने अपने देश के नवोत्थित उद्योगों और बाजारों को प्रतिद्वन्द्विता से बचाने के साथ ही अपने देश के मजदूरों को भी उसका लाभ पहुंचाने के लिए संरक्षणवाद की नीति प्रारम्भ की। इसमें ग्रेट ब्रिटेन ही एक अपवाद रहा क्योंकि वह उस दौरान पहले से ही विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य का स्वामी बन चुका था और उसे अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल और बाजार के विकल्पों की कमी नहीं थी।

जहाँ एक ओर साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के नए दौर में वैश्विक स्तर पर स्थानीय समुदायों का शोषण एवं वंचन जारी था वहीं नई प्रकार की कारखाना प्रणाली के चलते उसमें लगे मजदूरों की दुर्दशा और स्वयं अपने देशों में पैदा हो चुकी नई प्रकार की असमानताओं के अनुभव के साथ पश्चिमी जगत में ही समाजवाद के दर्शन और उसके विभिन्न सिद्धान्तों और रूपों का भी विकास हुआ। इसी ने मजदूरों के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के समाजवादी संगठनों को जन्म दिया। कार्ल मार्क्स द्वारा उसके 'वैज्ञानिक समाजवाद' के प्रतिपादन, 'दुनिया के मजदूरों एक हो' के नारे के साथ 1848 में प्रथमतः घोषित 'साम्यवादी मैनिफेस्टो' तथा 1864 में लन्दन में आयोजित प्रथम सोशलिस्ट इन्टरनेशनल ने साम्यवाद के नाम से समाजवादी परिप्रेक्ष्य को एक नई दिशा प्रदान की। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी आन्दोलन के कुछ प्रयोग यद्यपि तभी से जारी हैं परन्तु संभवतः यह रोज़ा लक्ज़मबर्ग ही आखिरी थी जिसने प्रथम विश्व युद्ध के समय राष्ट्रीय हितों से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी आवाहन को सही दिशा देने और बड़ा जोखिम उठाने की कोशिश की। उसने उसी दौरान समाजवादी क्रांति के लिए एक आम हड़ताल के द्वारा मजदूरों में उत्तेजना पैदा करने की दलील दी क्योंकि उसकी दृष्टि में युद्ध का मजदूरों से कुछ लेना देना न होकर वह पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम था। परन्तु, सोशल डेमोक्रेट्स के नाम से जाने गए

विभिन्न राष्ट्रों जैसे जर्मनी, फ्रांस और रूस के राष्ट्रवादी समाजवादियों को समाजवाद या साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग तलाशने के बजाय समाजवाद के संवाद को राष्ट्रीय हितों और भावनाओं से जोड़कर रखने में कहीं ज्यादा सफलता मिली।

20वीं शताब्दी का दौर और 21वीं शताब्दी की दिशा:

यह वस्तुतः औपनिवेशिक एवं साम्राज्यवादी ताकतों के बीच परस्पर ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता ही थी जो युद्ध की नई तकनीक तथा उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं से प्रोत्साहित होकर 1914 में एक विश्व युद्ध में परिवर्तित हुई। पुनः यह इस युद्ध के योरोपीय विजेताओं के राष्ट्रीय हित और भावनाएं ही थीं जिन्होंने 1919 की वर्साय की असम्मानजनक सन्धि को सम्पादित कराया। जहां एक ओर रूस युद्ध के बीच से पलायन करने तथा उसी दौरान हुई बोल्शेविक क्रांति के साथ साम्यवादी बन जाने के कारण पश्चिमी विजेताओं के लिए अछूत बन गया था, वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका आने वाले वर्षों में पश्चिमी पूँजीवादी लोकतंत्रों का स्वाभाविक नेता बनता गया। युद्ध के बाद के इन वर्षों में व्याप्त प्रतिक्रियाओं, अनिश्चितताओं तथा एक-दूसरे के प्रति आशंकाओं और विशेष रूप से पूँजीवादी लोकतंत्रों में रूस की समाजवादी/साम्यवादी व्यवस्था से भय के फलस्वरूप ही विश्व ने इटली में फासीवाद, जर्मनी में नाजीवाद, स्पेन में सैन्य तानाशाही एवं जापान में सैन्यवादी शासनों की स्थापना होती भी देखी जिसने मात्र बीस वर्षों के अन्तराल पर ही पहले से भी बड़े और भयानक विश्व युद्ध को जन्म दिया। यहां यह भी याद दिलाना रोचक होगा कि दोनों विश्व युद्धों के बीच चलाए जाते रहे निःशस्त्रीकरण के संवादों में सोवियत रूस ही था जो पूर्ण निसैन्यीकरण पर बल देता रहा लेकिन बड़ी शक्तियाँ इस क्षेत्र में अपनी श्रेष्ठता को त्यागने के लिए कभी प्रस्तुत नहीं हुईं और अधिक से अधिक एक प्रकार के शक्ति-सन्तुलन या अपने बीच अपने अपने पक्ष में शस्त्रास्त्रों के अनुपातों के निर्धारण से आगे नहीं बढ़ सकीं।

जो भी हो उस दौर में पूँजीवादी लोकतंत्रों और उनके औपनिवेशिक साम्राज्यों में होने वाली इन दुर्घटनाओं से स्वतंत्रता, लोकतंत्र और समाजवाद की मशाल कमजोर पड़ने वाली नहीं थी। रूस में महान क्रांतिकारी लेनिन के नेतृत्व में हुई बोल्शेविक क्रांति ने दुनिया में सर्वहारा मजदूरों की सत्ता के नाम से राज्य व्यवस्था का एक नया अध्याय जोड़ दिया और जल्दी ही चीन के महान् साम्यवादी राष्ट्रभक्त माओ-त्ज़े-तुंग ने समाजवाद या साम्यवाद को

अपने देश के किसानों के बीच पहुँचा दिया। फ्रांस और जर्मनी जैसे योरोपीय देशों में वर्ग-संघर्ष और क्रांति के विचार में विश्वास रखने वाले सोशल डेमोक्रेट्स की उपस्थिति के साथ ही पश्चिम के उदार या पूँजीवादी लोकतंत्रों में भी समाजवादी क्रांति और सत्ताओं की प्रकृति और संरचना को लेकर मंथन जारी था। प्रथमतः इंग्लैण्ड में फेबिअन कहे गए समाजवादियों ने क्रांति के बजाय सार्वजनिक सभाओं एवं भाषणों, शोध तथा प्रकाशनों के माध्यम से जनता को समाजवाद के प्रति जागरूक करने की विधा अपनाते हुए विकासोन्मुख समाजवाद का खाका खींचा। समाजवादी विचार की इसी धारा का प्रतिनिधित्व करते हुए 1883-84 में ही लन्दन में फेबिअन सोसाइटी की स्थापना हो चुकी थी और 1906 में जार्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी और बेट्रिस वेब ने ब्रिटेन में लेबर पार्टी का गठन किया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद के वर्षों में बर्टेण्ड रसेल जैसे उदार समाजवादियों ने भी लोकतांत्रिक प्रणालियों के अन्तर्गत समाजवादी संस्थाओं की स्थापना के लिए लोगों को मानसिक रूप से तैयार करने के उदार तरीकों की वकालत की। इस बीच चीन में सन्यात् सेन एवं चिआंग-काई-शेक के बाद माओ-त्ज़े-तुंग के नेतृत्व में पश्चिमी वर्चस्व को समाप्त करने और जापान की चीन में बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा को प्रतिरोधित करने का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। इसके समानान्तर भारत में महात्मा गाँधी के नेतृत्व तथा विभिन्न अन्य क्रांतिकारी आन्दोलनों के साथ स्वतंत्रता का एक महान संग्राम खड़ा हो चुका था। महात्मा गाँधी एक अग्रणी मानवतावादी दार्शनिक सन्त के रूप में भारत को उसकी सामाजिक बुराइयों (अस्पृश्यता और स्त्रियों के सम्मान आदि से जुड़े प्रश्नों) से मुक्त करने और उसमें जनता की इच्छा पर आधारित स्थानीय ग्राम स्तरीय इकाइयों द्वारा संचालित 'ग्राम स्वराज' की स्थापना का स्वप्न देख रहे थे जो अपनी स्वस्थ परम्पराओं और ऐतिहासिक विरासत का सम्मान करता हो। वहीं भारत के भी नेतृत्व में समाजवादी विचारों को मानने वालों की कमी नहीं थी जो या तो महात्मा गाँधी के नेतृत्व में आन्दोलन से जुड़े रहकर अपनी विचारधारा को प्रसारित करने में लगे थे या अपना स्वतंत्र आन्दोलन चला रहे थे। यद्यपि भारत में एम.एन.रॉय जैसे कुछ साम्यवादी भी थे जो रूस से ही निर्देशन लेते रहे और देश के स्वतंत्रता संग्राम के मूकदर्शक बने रहे, परन्तु शचीन्द्रनाथ सान्याल, चन्द्र शेखर आजाद और सरदार भगत सिंह जैसे समाजवादी क्रांतिकारियों ने उग्रवादी माध्यमों का प्रयोग करते हुए आजादी की लड़ाई में अपनी शहादतें दीं। दूसरी ओर जवाहर लाल नेहरू एवं सुभाष चन्द्र

बोस सहित आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, एस.पी. जोशी, राम मनोहर लोहिया और अनेक अन्य समाजवादी गाँधी के प्रभाव में अहिंसा का सिद्धान्त अपनाते हुए कांग्रेस के साथ जुड़े रहे। आचार्य नरेन्द्र देव ने जयप्रकाश नारायण, मीनू मसानी, सम्पूर्णानन्द, अच्युत पटवर्धन, श्री प्रकाश, अशोक मेहता, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, युसुफ मेहरअली, एन.जी. गोरे, पुरुषोत्तम टीकमदास, बसावन सिंह, एस.पी. जोशी, राम मनोहर लोहिया आदि अनेक समाजवादियों के साथ 1934 में कांग्रेस के अन्तर्गत ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस से विद्रोह कर 1939 में सभी समाजवादियों को एक मंच पर लाने के लिए 'फारवर्ड ब्लॉक' का निर्माण किया। नरेन्द्र देव और उनके साथियों ने भी कांग्रेस से निराश होते हुए 1947 में अपने समाजवादी दल की स्थापना कर ली। पुनः 1952 के प्रथम आम चुनाव में असफलता के बाद उन्होंने जे.बी. कृपलानी को भी साथ लेते हुए प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया जिससे कुछ वर्ष बाद ही अलग किए जाने पर डॉ. राम मनोहर लोहिया ने 1955 में समाजवादी दल को पुनर्जिवित करने की घोषणा की। जबकि जवाहरलाल नेहरू स्वयं समाजवादी विचार के होते हुए भी सम्पूर्णानन्द जैसे कुछ समाजवादियों के साथ कांग्रेस में मध्यममार्गियों और दक्षिणपंथियों के बीच अकेले बने रहे।

लोकतंत्र और समाजवाद के प्रयोग की दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व और विशेष रूप से हमारे जैसे नवस्वतंत्र या नवस्थापित राष्ट्रों का इतिहास अनेक उलझनों से घिरा दिखाई देता है। गैर उपनिवेशीकरण या करीब करीब सभी पुराने उपनिवेशों के मुक्त होने के बाद भी न तो तनाव मुक्त विश्व की संभावना बनती दिखी और न ही किसी राष्ट्र द्वारा किसी अन्य राष्ट्र पर अपनी प्रभुता के प्रदर्शन की गुंजाइश खत्म होती दिखाई दी। विश्व के विभिन्न भागों और नव स्थापित राष्ट्रों में उनके अपने नागरिकों के बीच ज्ञान के प्रसार और जीवन के स्रोतों एवं सम्पदा के न्यायपूर्ण वितरण की जो भी राजनीतिक एवं आर्थिक प्रणालियाँ अपनाई या प्रयोग में लाई गईं उनसे किसी ऐसे विश्व के निर्माण का स्वप्न स्वप्न ही बना रहा जिसमें असमानता, गरीबी, असहायता और धार्मिक विश्वासों एवं संस्कृतियों के बीच शत्रुता का कोई स्थान नहीं होता। संयुक्त राष्ट्रसंघ और उसके अन्तर्गत यूनेस्को, युनिसेफ, विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसे विभिन्न मानवतावादी उपक्रमों के बावजूद विश्व अविश्वास और आतंकवाद और सभी प्रकार के बहशीपन का शिकार होता गया। तकनीकी की चैतरफा प्रगति और ऊपरी

तौर से दिखने वाले विकास के वातावरण में जहाँ कुछ लोगों के लिए सुख-सुविधा के अकल्पनीय साधन इकट्ठा होते गए वहीं राष्ट्र और वैश्विक दोनों ही स्तरों पर भयानक असमानता, शोषण एवं दोहन की स्थितियाँ बनती रहीं जिससे स्वयं राष्ट्रों के भीतर और अन्य राष्ट्रीय समुदायों के बीच अविश्वास में वृद्धि हुई।

यूँ तो यह सब पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के साथ जुड़े नए प्रकार के आन्तरिक और बाह्य आर्थिक उपनिवेशवाद की ही देन है परन्तु प्रश्न उठता है कि समाजवाद और लोकतंत्र की कल्याणकारी योजनाओं का क्या हुआ! समाजवादी क्रांतिकारियों की क्रांति के द्वारा वास्तविक समाजवाद लाने की आशा रही हो या उदार समाजवादियों द्वारा समाजवाद को विकसित करने और लोकतांत्रिक तरीकों से लागू करके एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की अभिलाषा रही हो दोनों के ही द्वारा अपनायी गयी राजनीतिक आर्थिकी से इनमें से किसी के भी स्वप्न पूरे होते क्यों नहीं दिखाई दिए! चाहे वह उदार लोकतांत्रिक समाजवाद रहा हो जो आधुनिक युग की आर्थिक और तकनीकी प्रगति को अपने बहुसंख्यक कमजोर नागरिकों तक पहुंचाने के ईमानदार प्रयास का दावा करता रहा हो, अथवा वह सम्पूर्णतावादी समाजवादी या साम्यवादी सत्ताएँ रही हों जो अपने नागरिकों के बीच श्रम के समान वितरण और मूल्य के निर्धारण द्वारा समतायुक्त समाज के निर्माण की बात करती रही हों, वह सभी अपने घोषित उद्देश्यों को प्राप्त करने में बुरी तरह असफल रही हैं। समाज कल्याण के अर्द्धविचारित कार्यक्रमों के साथ संलग्न भयानक भ्रष्टाचार एवं धोखाधड़ी और अनियंत्रित होते रहे अपराध ने कतिपय सर्वमान्य मूल्यों पर आधारित एक शान्तिपूर्ण प्रगतिशील मानवता के कम से कम अपने ही देशों की सीमाओं में व्यवहृत होते देखने की लोगों की आशा को छिन्न भिन्न कर दिया है। समाज कल्याण और समाजवाद और यहाँ तक कि न्यायपूर्ण स्वतंत्रता एवं धर्मनिरपेक्षता जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति भी उन्हें उदासीन बना दिया है। जबकि अपने पूर्व के औपनिवेशिक स्रोतों से प्राप्त सम्पदा से युक्त और नए बाजार पर एकाधिपत्य रखने की कला में माहिर आधुनिक तकनीकी में आगे बढ़े हुए पूँजीवादी लोकतंत्रों और उससे लाभान्वित लोगों का वैभव विश्व के विकासशील या कमजोर हिस्सों के लिए छटपटाहट का एक और कारण बनता रहा है। 1960 के दशक से ही यह कला और साहित्य के क्षेत्र में तो भिन्न भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होता रहा है और अब लगभग पिछले तीन दशकों से

संकीर्ण स्थानीयतावाद या क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक या सांस्कृतिक राजनीतिक आग्रहों के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में मुखरित और प्रभावी हुआ है। 'उत्तर आधुनिकता' के नाम से जानी जा रही इस तथाकथित युगधारा के साथ अनेक प्रकार की प्रतिक्रियावादी, रूढ़िवादी एवं प्रतिगामी प्रवृत्तियाँ और गतिविधियाँ भी जुड़ी हैं जो आधुनिक काल में विश्वबन्धुत्व, स्वतंत्रता, न्याय और समता के महान् मूल्यों और उनके व्यवहारों के सर्वथा विरुद्ध खड़ी दिखाई पड़ती हैं।

पिछली शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश से विश्व में सभी ओर साम्यवादी और समाजवादी दिशा को त्यागकर नव-पूँजीवाद को अपनाने की होड़ सी लगी दिख रही है। गंभीर आर्थिक संकट के दौर में सोवियत संघ ने ग्लास्नॉस एवं पेरैस्त्रॉअका का प्रयोग कर बाजार को स्वतंत्र करने का कार्य किया जो अन्ततः उसके विघटन तथा वारसा सन्धि के टूटने और उसके पूर्वी एवं दक्षिणी-पूर्वी योरोपीय मित्रों पर उसके प्रभुत्व की समाप्ति का कारण बना। इसके साथ ही उसके साम्यवादी योरोपीय मित्रों ने भी समाजवादी प्रणाली को त्यागना प्रारम्भ कर दिया। यहां तक कि लाल चीन ने भी विश्व की आर्थिकी में एक मजबूत साझेदार के रूप में पूँजीवादी दौड़ में शामिल होने में जरा भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई। बल्कि उसने अपनी वस्तुओं के बाजार की अपनी ही शैली अपनाई और दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में अपने लिए एक आर्थिक क्षेत्र भी निर्मित कर लिया। तथाकथित समाजवादी आर्थिकी पर पूँजी के बाजार की इस विजय के साथ ही विश्व सं.रा.अमेरिका और तकनीकी रूप से विकसित उसके सहयोगियों के इर्द-गिर्द सिमटता दिखाई दिया। इस एकध्रुवीय विश्व के निर्बाध नेता के रूप में उसने विश्व व्यापार संगठन के नए संस्करण, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और उसके आगे डंकल प्रस्ताव के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक व्यवहारों को निर्देशित या कभी कभी आदेशित करने जैसा अधिकार प्राप्त कर लिया। विडम्बना यह भी रही कि जहां इस नई महाकाय पूँजावादी आर्थिक प्रणाली के सम्मुख अपनी समाजवादी आर्थिकी के व्यवहार में असफल हो चुके कई पुराने समाजवादी राष्ट्रों ने तो आगे-पीछे समर्पण किया ही, पूँजीवादी और समाजवादी राजनीतिक आर्थिकी के बीच प्रतिद्वन्द्विता के दौर में कम से कम राजनातिक क्षेत्र में निर्गुट आन्दोलन से जुड़े रहे तृतीय विश्व के अनेक देशों ने भी इस पूँजीवादी खेल में कनिष्ठ सहभागी बनने में कोई हिचक नहीं दिखाई। यही कारण है कि आज हम हर तरफ मानवीय मूल्यों और गंदगियों से मनुष्य की मुक्ति के बजाय

किसी भी प्रकार और किसी भी माध्यम से पूँजी और बाजार के वैश्वीकरण और उदारीकरण के नगाड़ों की गूँज सुन रहे हैं। बाजार का यह नया जोर राष्ट्रों की जनता द्वारा चुनी गई सरकारों तक को आन्तरिक उपनिवेशवाद को अपनाने के लिए विवश कर चुका है। बड़े व्यवसाय या कॉर्पोरेटों या बड़े निजी पूँजीपतियों के पूँजीवादी कार्यक्रमों के हक में ऐसी स्थानीय जनता को उजाड़ने में इन सरकारों को कोई परहेज़ नहीं होता जो पूँजी और उसकी तकनीकी पर कोई स्वामित्व या नियंत्रण नहीं रखती है। साथ ही यह पर्यावरणीय खतरों को भी अनदेखा करने से नहीं हिचकती। यही वज़ह है कि 1960 के दशक तक लोकतंत्र की कला से सुसज्जित होकर आवश्यकताओं और विक्षिप्तताओं से मानव सभ्यता को निजात दिलाने वाले महानतम् विचार के रूप में मान्य समाजवाद आज हाशिये पर खड़ा दिखाई दे रहा है। इसीलिए सुनाई देता है कि समाजवाद के दिन लद चुके हैं और कल्याणकारी राज्य के तेजी से समाप्त होने में लगे हैं, और लोकतंत्रीय प्रणाली का अर्थ अब जनता द्वारा केवल ऐसी सरकार चुन लेना भर रह गया है जो बाजार की पंक्तियों के हित में पूर्व से ही बुनी गई योजनाओं और कार्यक्रमों पर मुहर लगाने के लिए तैयार हो। अनिश्चितता और अस्पष्टता के ऐसे वातावरण में जनता को विकास के झूठे वादों और सपनों या जाति या धर्म और संस्कृति या क्षेत्र या आसानी से चलाये जा सकने लायक किसी भी नारे से बहकाना आज उपलब्ध सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरणों ने और भी सरल बना दिया है जो बाजार की इन्हीं शक्तियों के हाथ में है। जैसा कि बताया जाता है कि इसे देशों की सीमाओं के बाहर आकाश से भी नियंत्रित और संचालित किया जा सकता है क्योंकि समाज की पंक्ति और उसके नियंत्रण के लिए साइबर स्पेस तकनीकी का केन्द्र संयुक्त राज्य अमेरिका ही बन रहा है।

यद्यपि ऊपरी तौर पर ही सही, इस नव-पूँजीवादी संस्कृति और आर्थिक साम्राज्यवाद से क्षतिग्रस्त कुछ लातिनी अमेरिकी देशों तथा स्पेन और यूनान में समाजवादी विचारों और संगठनों का पुनः उभार होते भी देखा जा सकता है, वहीं पूँजी के दुष्क्र में फंसे यूनान का धर्मसंकट भी सबको प्रकट है। अतः निकट भविष्य में इस नव-पूँजीवाद के विरुद्ध वैश्विक स्तर पर कोई मौलिक समाजवादी आन्दोलन खड़ा होना तभी संभव होगा जब समाजवादी प्रणालियों की सार्थकता प्रमाणित करने वाले लक्ष्य और उपकरण स्पष्ट होंगे अन्यथा यह वामपंथ या दक्षिणपंथ की ओर झुकी सरकारों की अदला बदली के खेल जैसा ही बना रहेगा।

भाग तीन हम कहाँ गलत हुए!

क्या हम यह मान लें कि लोकतंत्रीय और समाजवादी प्रणालियों के प्रयोग निष्प्रयोजन ही रहे या कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य स्वयं में आधुनिक युग की एक कपोलकल्पना थी! अथवा, हम उन साधनों और संस्थाओं पर विचार करना प्रारम्भ करें जिसके कारण हमें अपेक्षाओं के अनुरूप परिणाम नहीं मिल सके, यहां तक कि लोगों ने इसके मूल दर्शन को ही एक 'युटोपिया' करार देना शुरू कर दिया। यह एक प्रकार से भविष्य की मानवता के लिए लोकतंत्र और समाजवाद को एक असफल या अपर्याप्त प्रणाली मानने या न मानने लिए फिर से एक बहस चलाने जैसा भी लग सकता है।

क्या यह माना जाय कि उदार लोकतांत्रिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था पूँजीवाद को ही बढ़ाती है। या, वह एक समतामूलक समाज के निर्माण का माध्यम नहीं बन सकती! इसी प्रकार क्या यह माना जाय कि समाजवादी प्रणालियाँ पूँजीवादी समाज की आर्थिक प्रगति की सानी न रख पाने के कारण अनिवार्यतः सम्पूर्णतावादी सत्ताओं का रूप ले लेती हैं और लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं का गला घोट देती हैं।

अतः प्रश्न यह भी है कि क्या समाजवाद के बिना लोकतंत्र की पूर्णता संभव है, और इसी प्रकार क्या लोकतंत्र के बिना समाजवाद एक कल्याणकारी राज्य का निर्माण कर सकता है!

यदि हमने राजतंत्र, स्वेच्छाचारी शासन, अधिनायकवाद और सम्पूर्णतावादी शासन व्यवस्थाओं को पूरी तरह नकार दिया है और यदि हम एक वैविध्यपूर्ण और स्वतंत्र परन्तु समतामूलक मानवीय समरसता से युक्त समाज के लिए अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के चक्रव्युह से भी निकलने के लिए विकल्पों की तलाश में हैं तो हमें उपर्युक्त सभी प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा।

मार्क्स ने मानवता के अन्तिम लक्ष्य के रूप में राज्यविहीन समाज की आशा की थी परन्तु इसके लिए उसके विचार से निजी सम्पत्ति के लक्षणों को पूर्णतया समाप्त करना ज़रूरी होता जो विषमता के जनक रहे हैं। गाँधी ने भी ऐसे राज्यविहीन समाज का स्वप्न देखा था जो मनुष्यों के विवेक द्वारा ही संचालित होता। दोनों ने अपने अपने ढंग से जनता द्वारा ही स्रोतों के नियंत्रण, प्रबन्धन और वितरण की अपेक्षा की।

एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए जहां

महात्मा गाँधी ने मनुष्यों में अन्तर्निहित मानवता के गुणों को जागृत या प्रेरित करने में विश्वास रखा, वहीं माओ-त्ज़े-तुंग ने मानव प्रजाति में बनी हुई पाशविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने के लिए बाह्य शक्ति के प्रयोग को आवश्यक समझा।

समाजवाद में पूर्ण विश्वास रखते हुए भी जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के अपने निकट अवलोकन के आधार पर तत्समय प्रचलित लोकतांत्रिक एवं समाजवादी दोनों ही प्रणालियों एवं उनके व्यवहारों को कल्याणकारी राज्य की ओर प्रगति के लिए अपर्याप्त पाया। उसे इस बात से निराशा हुई कि, 'जहां आधुनिक समाज और सभ्यता निर्बाध पूँजीवाद से जकड़ी हुई है, वहीं आम लोगों के इससे मोहभंग का लाभ समाजवाद के व्यापक स्तर पर प्रसार और उसमें किसी बुद्धिमत्तापूर्ण विश्वास के रूप में नहीं दिखाई दिया है।' ("while modern society and civilization itself have fallen prey to unfettered capitalism, the "loss of popular faith in it has gone much further than the gain of any widespread or intelligent faith in socialism. ")।

समाजवाद की दिशा में पूँजीवाद के साथ किए जाने वाले लोकतांत्रिक समझौतों का संकेत करते हुए बर्नार्ड शॉ ने कहा कि लोकतांत्रिक सरकारें आम तौर पर स्वतंत्र आर्थिक व्यवहारों में हस्तक्षेप करने और वितरण प्रणाली को संतुलित करने के लिए बाध्य होकर सम्पत्तियों से प्राप्त होने वाले बड़े मुनाफ़ों और आय को ज़ब्त या उसमें कटौती (आय कर, अतिरिक्त कर एवं सम्पत्ति कर जैसे प्राविधानों द्वारा) करने का कार्य करती हैं। इससे प्राप्त होने वाले राजस्व को वह बेरोजगारी भत्ते और सामुदायिक सेवाओं के विस्तार में लगाने के साथ ही सर्वहारा के लिए ज़रूरी ऐसे विशेष कार्यों में खर्च करती हैं जिसकी पूर्ति उनके मालिक नहीं करते होते हैं। वह सर्वहारा के हित में उनके मालिकों को अपने स्वार्थ के लिए मजदूरों से असीमित घंटों तक काम लेने से रोकती हैं और उनके स्वास्थ्य, शारीरिक सुरक्षा, नैतिक कल्याण का ध्यान रखने के लिए दबाव देती हैं। शॉ पुनः कहते हैं कि लोकतंत्र या सभी के लिए मताधिकार ने सामाजिक समस्याओं के समाधान का कोई रचनात्मक रास्ता नहीं सुझाया है और न ही सबके लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा से ही कोई लाभ मिला है। मताधिकार के विस्तार के प्रत्येक चरण से लोगों की आशाओं में आशातीत वृद्धि हुई है जिसमें अन्ततः

स्त्रियों को मताधिकार दिया जाना भी सम्मिलित है। परन्तु, यह सभी आशाएं निराशाओं में बदल गयी हैं क्योंकि मतों का प्रयोग करने वाले पुरुष और स्त्री सभी राजनीतिक रूप से प्रशिक्षित और शिक्षित नहीं रहे हैं। एक तो उन्हें रचनात्मक तरीकों की कोई समझ नहीं होती, और न ही कर-व्यवस्था की। तीसरे उन्हें शासित होना भी पसन्द नहीं होता और वह किसी भी प्रकार के प्रशासनिक हस्तक्षेप को अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता में दखलन्दाजी समझते हुए उसका विरोध करने पर उतर आते हैं। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उन्हें जागरूक बनाने के बजाय उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रति ज्यादा संवेदनशील बना रही है और उसके वितरण में लगे राज्य को अपराधी और खतरनाक मान बैठने के साथ ही समाजवाद के विरुद्ध पुराने जनविश्वास को पुनर्जिवित करने का काम ही कर रही है। इसने व्यक्तिगत सम्पत्ति को असमानता का जनक मानने, आय की समानता को सर्वाधिक सामाजिक महत्व के रूप में देखने और कामचोरी को अपराध मानने वाले चरित्र के निर्माण के राष्ट्रीय शिक्षा के आधारभूत उद्देश्य को पूरा करना असंभव बना दिया है।' लोकतंत्रीय प्रणाली की इस दुविधाग्रस्त स्थिति को और आगे विश्लेषित करते हुए शॉ ने कहा कि पूँजीवाद से हताश और निराश होने और व्यापार और मुद्रा की दुर्बल होती स्थिति को देखने के बावजूद लोकतंत्रीय संसदीय विपक्ष भी यह जानते समझते हुए भी कि इसका समाधान करों में वृद्धि, दिवालिया हो रहे उद्योगों का अनिवार्यतः पुनर्गठन एवं बेबाक राष्ट्रीयकरण और सभी वर्गों के लिए नागरिक एवं सैनिक क्षेत्र में अनिवार्य राष्ट्रीय सेवा लागू किया जाना हो सकता है, कोई ऐसी सलाह देने से बचता है क्योंकि मात्र करों में वृद्धि का एक प्रस्ताव ही उसके चुनावी भविष्य को खतरे में डाल सकता है। अपनी जिम्मेदारियों से बचने के लिए वह किसी सत्ता परिवर्तन के षड्यंत्र (कु द् एतात्) या तानाशाही के द्वारा संसदीय संस्थाओं को दबाना श्रेयस्कर समझता है जैसा कि इटली, स्पेन और रूस में हुआ। लोकतांत्रिक संस्थाओं की यह निराशा तत्कालीन शताब्दी की विशेषता रही। 20वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में योरोप में राजनीतिक स्थिति अत्यन्त अनिश्चित और भयावह हो चुकी थी और अधिकांश राजनीतिक दल समाजवादी आवश्यकताओं को एक खतरनाक बिमारी के रूप में देखते हुए फ़ासीवाद, नाजीवाद और सैनिक तानाशाहियों जैसे आत्मघाती विकल्पों की तलाश में जुट गए थे। परन्तु यह स्थिति उस लोकतांत्रिक जनमत को इस

तथ्य के प्रति जागृत् करने में असफल रही कि एक लम्बे संघर्ष के बाद शासन करने का अधिकार पाने के बावजूद उनमें उसके प्रयोग की न समझ है और न ही इच्छाशक्ति और वह अपने मतों का उपयोग सरकारों द्वारा पूर्व या यथास्थिति को बनाए रखने में ही कर रहा है जबकि सभ्यता सभी दिशाओं में राष्ट्रीयता के अवरोधों को लांघने में लगी है।

बर्नार्ड शॉ के अनुसार इस प्रकार की लोकतांत्रिक प्रणालियाँ न तो विभिन्न आकांक्षाएं और मनःस्थिति रखने वाली जनता को संतुष्ट करने में सफल हुईं और न ही समाजवाद लाने में। उसकी दृष्टि में 'समाजवाद लाने के लिए उसके दो प्रमुख सिद्धान्तों को अपनाया जाना ज़रूरी था, एक तो निजी सम्पत्ति (जिसे व्यक्तिगत (पर्सनल) सम्पत्ति से नहीं मिलाया जाना चाहिए) की समाप्ति और दूसरा आय की समानता जिन्हें जनता के बीच ऐसे धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत् होना अनिवार्य था जिस पर किसी भी प्रकार के विवाद की कोई गुंजाइश नहीं होती। तभी कोई समाजवादी राज्य स्थायित्व प्राप्त कर सकता था'।

20वीं शताब्दी के उदारवादी समाजवादी चिन्तक बर्टेण्ड रसेल (1872-1970) ने लोकतंत्र की सत्ता को महत्व देते हुए समाजवादी व्यवस्था को लाने के लिए अनुशासन के अलोकतांत्रिक तरीकों या शक्ति के प्रयोग से असहमत जताई। उसकी समझ से, 'राजनीतिक शक्ति को अन्ततः लोकतांत्रिक ही होना चाहिए। 1918 के पहले के लगभग सभी समाजवादी और मार्क्स स्वयं भी बिना किसी विवाद के इस परिभाषा से सहमत होते। परन्तु चूँकि बोलशेविकों ने रूसी संविधान सभा को विघटित कर दिया अतः इसने एक भिन्न सिद्धान्त को पैदा कर दिया जिसके अनुसार जब कोई समाजवादी सरकार क्रांति के द्वारा सत्ता प्राप्त करती है तो राजनीतिक शक्ति उसके केवल प्रतिबद्ध समर्थकों के ही हाथ में होनी चाहिए। यहां यह माना जा सकता है कि किसी गृहयुद्ध के बाद तुरन्त यह संभव नहीं होता कि पराजितों को भी सब अधिकार दे दिए जाएं, फिर यह भी माना जाना चाहिए कि समाजवाद भी एकदम से स्थापित नहीं किया जा सकता। कोई भी समाजवादी सरकार जिसने समाजवाद के आर्थिक भाग को लागू कर दिया हो तब तक अपने कार्यों की इतिश्री नहीं मान सकती जब तक कि लोकतांत्रिक सरकार की स्थिति में आने के लिए पर्याप्त जनसमर्थन प्राप्त नहीं कर लेती'।

(अगले अंक में जारी...)

लाठीतंत्र में शिक्षा का मसला

सुयश सुप्रभ

वर्ष 2015 के अक्टूबर में यूजीसी ने केंद्रीय विश्वविद्यालयों में एमफिल और पीएचडी के शोधार्थियों को मिलने वाली गैर-नेट फेलोशिप बंद कर दी। इसके बाद कई राज्यों में इसके विरोध में प्रदर्शन हुए लेकिन सरकार ने अभी तक इस मसले पर ऐसा कोई फैसला नहीं लिया है जो प्रदर्शनकारियों को संतुष्ट कर सके। विरोध की पहली चिंगारी तब फूटी जब प्रदर्शनकारियों ने 21 अक्टूबर, 2015 को यूजीसी भवन पर डेरा डाला। दो महीने से भी ज्यादा लंबे समय तक यूजीसी भवन के सामने धरने पर बैठे प्रदर्शनकारियों पर पुलिस ने कई बार बर्बर तरीके से लाठीचार्ज किया। लेकिन उनका हौसला न तो ये लाठियाँ कम कर पाईं न दिसंबर-जनवरी की सर्द रातों में होने वाली परेशानियाँ। एक बार तो ऐसा हुआ कि पुलिस की लाठियों से घायल प्रदर्शनकारी अस्पताल से निकलने के बाद घर या कैम्पस जाकर आराम करने के बदले सीधे धरना स्थल पहुँच गए। उनके इस जज्बे ने भारत के कई विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में संघर्ष की प्रेरणा जगाई और धीरे-धीरे दिल्ली में शुरू हुआ यह विरोध प्रदर्शन भारत के कई शहरों में फैल गया।

सरकार ने जिस तरीके से आंदोलनकारियों की आवाज को दबाने की कोशिश की है उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मौजूदा सरकार उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अंतरराष्ट्रीय पूँजी का रास्ता साफ करने के लिए अपने ही नागरिकों को कुचलने के लिए तैयार बैठी है। देश की राजधानी में महिला प्रदर्शनकारियों को पुरुष पुलिसकर्मियों ने दौड़ा-दौड़ाकर पीटा और कई प्रदर्शनकारियों को तो अस्पताल में दाखिल करना पड़ा। कुछ प्रदर्शनकारियों को बस में भी पीटा गया। इस दमन को देखने के बाद यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि जब सरकार दिल्ली में अपने नागरिकों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकती है तो आदिवासियों के इलाकों में वह क्या-क्या करती होगी।

यूजीसी भवन के सामने धरने पर बैठे विद्यार्थियों के मनोबल को तोड़ने के लिए सरकार ने तमाम पैतरे आजमाए। यूजीसी भवन में महिला प्रदर्शनकारियों को शौचालय का इस्तेमाल करने से रोका गया। लाठीचार्ज के

दौरान उन कार्यकर्ताओं को घेर कर मारा गया जिन्होंने इस आंदोलन में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई है। महिला प्रदर्शनकारियों को यह कहा गया कि ऐसे विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने पर पुलिस उनके कपड़े निश्चित तौर पर फाड़ेगी। क्या ऐसा दमन सरकार के आदेश के बिना हो सकता है? इस सवाल का एकमात्र जवाब है - 'नहीं'। सर्द रातों में उन्हें कई बार पास के कब्रिस्तान से लकड़ियों का इंतजाम करना पड़ता है। वे कनाट प्लेस, मंडी हाउस आदि जगहों पर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित करके पैसा जुटा रहे हैं। हर नया दिन उनके लिए दर्जनों नई समस्याएँ लेकर आता है लेकिन वे शिक्षा को बचाने की लड़ाई में किसी तरह का समझौता करने को तैयार नहीं हैं। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि शिक्षा के निजीकरण के खिलाफ लड़ी जाने वाली लड़ाई एक-दो महीने में नहीं खत्म हो सकती है। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि इस संघर्ष से विचारों के जो बीज समाज में बोए जा रहे हैं वे आने वाले समय में बड़े आंदोलनों के फलदार पेड़ जरूर बनेंगे। प्रदर्शनकारियों ने अखिल भारतीय स्तर पर एक समन्वय समिति बनाई है जो देश के विभिन्न राज्यों के कैम्पसों में इस आंदोलन से जुड़ी गतिविधियों के समन्वय का काम कर रही है। बैरिकेड के सामने कक्षा चलाने से लेकर कविता पाठ आयोजित करने जैसे कई रचनात्मक काम किए जा रहे हैं।

जेएनयू के शोधार्थी वीरेंद्र का मानना है कि यूजीसी भवन के सामने धरने पर बैठे साथियों के संघर्ष की तरह यादवपुर विश्वविद्यालय और एफटीआईआई में हुए विरोध प्रदर्शनों में भी किसी राजनीतिक संगठन की केंद्रीय भूमिका नहीं देखी गई। वे संगठन के पारंपरिक ढाँचे और संगठित होने के अनौपचारिक स्वरूप के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि संगठन का पुराना ढाँचा अपने अंतर्विरोधों को दूर नहीं कर पा रहा है इसलिए संघर्ष के नए तरीके सामने आ रहे हैं जिसमें किसी एक संगठन की निर्णायक भूमिका नहीं दिखती है। वर्धा स्थित महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के लगभग 60 विद्यार्थियों ने दिल्ली में चल रहे विरोध

प्रदर्शन में हिस्सा लिया। इस बात को ध्यान में रखना जरूरी है कि इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी दो महीने से भी ज्यादा लंबे समय से यूजीसी भवन के सामने धरने पर बैठे हैं। दूसरे राज्य से दिल्ली आकर तमाम परेशानियों का सामना करते हुए सरकार की जनविरोधी नीतियों का विरोध करने के इस जज्बे को देखते हुए आने वाले समय में कैंपस राजनीति के मजबूत होने की उम्मीद बँधती है। एक बड़ी बात यह है कि अंडरग्राजुएट विद्यार्थियों ने भी विरोध प्रदर्शनों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। वे भी यह जानते हैं कि आज जो संकट उच्च शिक्षा पर मँडरा रहा है कल वह उनकी पढ़ाई को भी प्रभावित करेगा। अलीगढ़, इलाहाबाद, गया, चंडीगढ़ आदि शहरों से सैकड़ों विद्यार्थियों ने दिल्ली आकर इस संघर्ष में हिस्सा लिया। दिल्ली के कई विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों ने उच्च शिक्षा को पूरी तरह बाज़ार के हवाले करने के खतरों के प्रति जागरूकता पैदा करने के लिए उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, हरियाणा आदि राज्यों की यात्रा की। एक लंबे समय बाद देश में किसी मसले पर कैंपस राजनीति में ऐसी सक्रियता देखने को मिली।

भारत में उच्च शिक्षा का बाजार बहुत बड़ा है। उच्च शिक्षा के लगभग तीन करोड़ विद्यार्थियों को ग्राहक बनाकर बहुत बड़ा मुनाफा कमाने की उम्मीद कर रहे पूँजीपति शिक्षा नीति को मनचाहे ढंग से बदलने की कोशिश कर रहे हैं। दुनिया के कई देशों में यही हो रहा है। विश्व व्यापार संगठन एशिया और अफ्रीका में शिक्षा के बाजार पर कब्जा करने के लिए शिक्षा को देश की संप्रभुता के दायरे से बाहर निकाल कर एक ऐसे समझौते के जाल में उलझाना चाहता है जो सरकारों को अपने देश के संस्थानों को किसी तरह की आर्थिक मदद देने से रोक दे। इससे निजी संस्थानों का रास्ता साफ हो जाएगा। अभी उच्च शिक्षा में अच्छे सरकारी संस्थानों की मौजूदगी के कारण निजी विश्वविद्यालयों का धंधा मंदा चल रहा है।

वर्ष 2015 में चिली, दक्षिण अफ्रीका, ऑस्ट्रिया, ब्राजील समेत बहुत-से अन्य देशों में शिक्षा में जनविरोधी बदलावों के खिलाफ विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला चलता रहा। तुर्की और ऑस्ट्रिया में आंदोलनकारियों पर आतंकवाद विरोधी धाराएँ लगा दी गईं। पूँजी की तानाशाही में शिक्षा पाने के अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे लोग आतंकवादी घोषित हो जाते हैं और हथियार बेचने वाले लोगों को राजकीय सम्मान देकर बुलाया जाता है। ऐसे समय में समाज के सभी तबकों को शिक्षा के

अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे लोगों का साथ देना चाहिए। यूजीसी के सामने धरने पर बैठे विद्यार्थी केवल अपनी फेलोशिप को कायम रखने या उसकी राशि बढ़ाने की माँग नहीं कर रहे हैं। वे शिक्षा पर होने वाले खर्च को बजट का 10 प्रतिशत करने की भी माँग कर रहे हैं। उनकी एक माँग शिक्षा के निजीकरण को रोकने की भी है। सरकार अभी इन माँगों को माने या न माने, समाज को इन माँगों की अहमियत से अनजान नहीं होना चाहिए। एक लंबे संघर्ष की जमीन तैयार हो गई है। इस पर विचारों की फसल उगाने की जिम्मेदारी हम सभी की है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने फेलोशिप के मामले में पहले प्रदर्शनकारियों को भ्रमित करने की कोशिश की। स्मृति ईरानी ने मीडिया के सामने प्रदर्शनकारियों को एक समिति गठित करके उनकी माँगों पर विचार करने का आश्वासन दिया, जबकि प्रदर्शनकारी ऐसी किसी समिति के गठन के खिलाफ थे जिसका मकसद योग्यता के बहाने फेलोशिप के दायरे को छोटा करना है। मीडिया के एक तबके ने समिति गठित होने को आंदोलनकारियों की माँग पूरी होने के तौर पर पेश किया। इससे विद्यार्थियों में भी भ्रम फैला। उच्च शिक्षा तक पहुँचने वाले विद्यार्थी पहले ही प्रवेश परीक्षा और इंटरव्यू में अपनी योग्यता साबित कर चुके होते हैं। ऐसे में उन्हें फेलोशिप देने के लिए उनकी योग्यता को आँकने के लिए अलग से कोई मापदंड बनाने का कोई औचित्य नहीं नजर आता। योग्यता का पैमाना तब कहाँ चला जाता है जब देश को विनाश की खाई में धकेलने वाले वाले सांसदों को लाखों का वेतन मिलता है? अगर व्यवस्था में ही कोई कमी है तो किसी एक तबके की योग्यता पर ही सवाल क्यों उठाया जाए?

सरकार की संवेदनहीनता का एक उदाहरण यह भी है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने दिसंबर और जनवरी की ठंड में सड़क के किनारे सो रहे विद्यार्थियों को कई बार बात करने से इनकार करके वापस लौटा दिया। जिस समिति को दिसंबर के अंतिम सप्ताह तक रिपोर्ट पेश करने की जिम्मेदारी दी गई थी, वह जनवरी के पहले सप्ताह के बीत जाने के बाद भी खामोश बैठी है। हालाँकि इस समिति का विद्यार्थियों की माँगों से कोई लेना-देना नहीं है, लेकिन इसकी कार्यशैली ही सरकार की मंशा स्पष्ट कर देती है। इस समिति के अध्यक्ष गौतम बरुआ ने कहा है कि वे मीडिया से प्रदर्शनकारियों की माँगों की

जानकारी लेने के बाद उन पर विचार जरूर करेंगे। अगर वे चार कदम चलकर यूजीसी भवन के गेट तक चले जाते तो उन्हें प्रदर्शनकारियों की माँगों की जानकारी पाने के लिए मीडिया पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इस गेट के सामने दो महीने से भी ज्यादा लंबे समय से

प्रदर्शनकारियों ने धरना डाल रखा है। तब उन्हें यह भी मालूम हो जाता कि जनकवि विद्रोही ने इसी गेट के पास अंतिम साँस ली। उस अंतिम साँस में भी जनता को शिक्षा का अधिकार दिलाने का संकल्प शामिल था।

अशोक सेकसरिया स्मृति गोष्ठी

29 नवंबर 2015 को कोलकाता से चालीस किमी. दूर कांचरापाड़ा में अशोक सेकसरिया की प्रथम पुण्य तिथि पर समाजवादी जन परिषद, सामयिक वार्ता के साथियों तथा लेखकों, पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं ने अपने प्रिय अशोक जी को याद किया। यह बताना आवश्यक है कि अशोक जी के अनन्य संजय भारती ने कांचरापाड़ा में अपने आवास के एक हिस्से को अशोक जी को समर्पित करते हुए एक 'कुटिया' का रूप दिया है, जिसमें उनकी किताबें तथा अन्य वस्तुएँ करीने से रखी गई हैं। इस कुटिया को नाम दिया गया है- 'अशोकायतन'। इसी स्थान पर अशोक जी से जुड़े लोग उनके जन्म दिवस पर भी एकत्र हुए थे। बेहद अनौपचारिक ढंग से आयोजित इस 'अशोक जन समागम' में वस्तुतः लोगों ने उनकी स्मृति को जीया। समागम के दौरान अशोक जी को प्रिय दो गीत सुना गया और उनकी वीडियो क्लिपिंग भी देखी गई। यह सब सुहृद संजय भारती के प्रयासों का प्रतिफल था। संजय भारती ने उनकी डायरियों-कापियों से उनकी कविताओं का चयन किया है। इन्हीं चयनित कविताओं से बारह कविताओं का पाठ इस समागम में किया गया। अशोक जी ने भरसक अपनी कविताओं को कभी नहीं प्रकाशित कराया। उनकी कविताओं या कहें कवितानुमा अभिव्यक्तियों को सुनना एक अनूठे अनुभव संसार से गुजरना था। वस्तुतः उनकी ये अभिव्यक्तियाँ आत्मा की ऐसी पुकार हैं, जो सभी तरह के आवरण से जूझती हुई अपने अकेलेपन में निरलंकृत रूप में व्यक्त हुई हैं। अपनी इन अभिव्यक्तियों में वे अपने इर्द-गिर्द फैले हुए सभी तरह के पाखंडों, उपलब्धियों को जोड़ते-घटाते लोगों के प्रति अजीब वितृष्णा से भरे हुए दिखते हैं और स्वयं के

साथ ही उन्हें भी 'मनुष्य' बन जाने की प्रार्थना करते हुए दिखते हैं। इन कविताओं में अशोक जी का स्नेहिल, प्रेमिक रूप और सभी साथियों की बेचैनी भी चिंता करने वाला रूप भी दिखता है। समागम में उपस्थित सभी साथियों ने अशोक जी की रचनाओं के संग्रह एवं प्रकाशन की आवश्यकता भी महसूस की। कविता पाठ के बाद सभी साथियों ने अनौपचारिक ढंग से उनके साथ बिताए गए पलों को याद किया और संस्मरणों को साझा किया। संस्मरणात्मक बात-चीत के दौरान उनका जीवन्त रूप साने आया। जवाहर गोयल, नीलू गोयल, अमित जालान, हरeram चतुर्वेदी, बालेश्वर राय, अलका सरावगी, कचिरा गुप्ता, विद्यासागर गुप्ता, शर्मिला बोहरा, प्रीतीश आचार्य, संजय गौतम, नागेश तथा अन्य सहृद जन की उपस्थिति में अशोक जी की चिंताओं पर चर्चा की गई। इस संगत में उपस्थित सभी लोगों ने संसार को बेहतर, मानवीय बनाने की जरूरत का अनुभव किया। 'सामयिक वार्ता' का नवीनतम अंक देखते हुए लोगों ने इसे अशोक जी के सपनों की पत्रिका बताया और उसे आगे बढ़ाने की आवश्यकता पर बल दिया। आयोजन के पीछे संजय भारती, यमुना, अप्पू, सारा की भावना ही है, जिन्होंने अपने श्रम, भाव, निष्ठा से अशोक जी की स्मृति को एक आश्रमनुमा कुटिया में संजोकर रखा है, जो अशोक जी के कमरे की तरह ही खुला है। कोई भी अशोक जन वहाँ जाकर उनकी स्मृति को जी सकता है। सच में यह एक अनूठा कार्य है। उनका आग्रह भी है कि कम से कम जन्म तिथि एवं पुण्य तिथि पर लोग स्वयं यहाँ एकत्र हों और उन्हें याद करते हुए उनकी ही तरह कुछ करने का प्रयास करें।

बोलीविया का खनन उद्योग

डोमितिला चुनारा

आम तौर पर लेटिन अमरीकी देशों के बारे में बहुत कम चर्चा होती है। पिछले कुछ दशकों से खनिजों की प्रचुरता, गरीबी-बेकारी, अस्थिर सरकारें, फौजी शासन, इंफ्रास्ट्रक्चर की खस्ता हालत, विदेशी कर्ज़ में डूबी अर्थव्यवस्था, नशीले पदार्थों की तस्करी-लेटिन अमरीकी देशों की मिली-जुली पहचान बनते जा रहे हैं। लेकिन यही वे देश भी हैं जहाँ समाजवादी विचारधारा ने ज़ोर पकड़ा था। यहाँ हम बोलीविया की चर्चा करने वाले हैं। बोलीविया टिन, चाँदी, जस्ता जैसे खनिजों का दुनिया का प्रमुख निर्यातक है। खनिज अयस्क का खनन; यहाँ का एक प्रमुख उद्योग है। एक बड़ा जन समूह खदानों में खनिकों के रूप में काम कर रहा है।

यहाँ बोलीविया के खनन उद्योग की एक बानगी पेश करने के लिए डोमितिला बारिओस डि चुनारा की आपबीती को कथानक बनाया जा रहा है। डोमितिला की किताब स्मज डमैचमा पहली बार 1978 में प्रकाशित हुई। इसके हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन म.प्र. महिला मंच ने 2011 में किया है। भूगोल के शिक्षकों को ऐसी पुस्तकों से दुनिया के संसाधन व उनसे जुड़े लोगों का जीवन, छात्रों के साथ साझा करने में मदद मिलेगी। डोमितिला 'लेट मी स्पीक' में बोलीविया की एक टिन खदान 'सिगलो ग्' के बारे में काफी विस्तार से बताती हैं। यहाँ खदान इलाके के अनुभवों को दिया गया है। अन्त में बोलीविया के बारे में कुछ अपडेट्स दिए गए हैं। बीच-बीच में भारतीय सन्दर्भ में कुछ सवाल पूछे गए हैं।

बोलीविया की टिन खदानें

बोलीविया से मोटे-मोटे परिचय के बाद अब हम डोमितिला द्वारा दिए गए ब्यौरों की ओर आते हैं। डोमितिला 'लेट मी स्पीक' में बताती हैं-

“.....दुर्भाग्य से हम बोलीविया बहुत कम हैं। तमाम दक्षिण अमरीकियों की तरह ही हम भी स्पेनी भाषा बोलते हैं। लेकिन हमारे पुरखों की भाषा दूसरी थी। उनकी दो भाषाएँ थीं- क्वेचुआ और आइमारा। ये दोनों भाषाएँ आज भी बहुत सारे किसानों एवं खनिकों के बीच बोली जाती हैं। कुछ शहरों में भी थोड़ी-बहुत बची हैं। खासतौर से

कोचाबाम्बा और पोटासी में जहाँ बहुत-से लोग क्वेचुआ और लापास में आईमारा बोलते हैं।

....हमारा देश बहुत सम्पन्न है। विशेषतौर से खनिज-टिन, चाँदी, सोना, बिस्मिथ, जिंक, लोहा- यहाँ मिलते हैं। तेल और गैस के भी यहाँ प्रमुख स्रोत हैं। पूर्वी क्षेत्र में पशुपालन किया जाता है। हमारे पास लकड़ियाँ, फल और ढेर सारे कृषि उत्पाद हैं।

वस्तुतः इन सम्पदाओं पर बोलीविया के लोगों का स्वामित्व है। उदाहरण के लिए-खदानों, विशेषतौर पर बड़ी खदानों पर राज्य का स्वामित्व है। उनका राष्ट्रीकरण किया जा चुका है और उन्हें मालिकों से ले लिया गया है।

इन खदान मालिकों ने हमारा सारा टिन दूसरे देशों को बेच दिया और हमें तंगहाली में छोड़ दिया; क्योंकि उन्होंने अपनी सारी पूँजी विदेशों में, बैंकों में उद्योगों में, होटलों में और ऐसी ही सारी चीज़ों में निवेशित कर दी। अतः जब उन खदानों का राष्ट्रीकरण किया गया तो बोलीविया में वास्तव में, बहुत कम धन बचा था। इसके बावजूद इन खान मालिकों को मुआवजा दिया गया। इस तरह इन्हें और अमीर बनाया गया और राष्ट्रीकरण का फायदा आम जनता को बिलकुल नहीं मिला।

बोलीविया के बहुसंख्य लोग किसान हैं। लगभग 70 प्रतिशत आबादी गाँव में रहती है और वे बहुत ही भयंकर गरीबी में रहते हैं, हम खनिकों से भी ज़्यादा खराब स्थिति में। बावजूद इसके कि हम अपनी भूमि पर बंजारों की तरह रहते हैं, क्योंकि हमारे पास घर नहीं है। हमारे पास रहने के लिए केवल वही निवास है जो कम्पनी हमें उस समय तक देती है जब तक मज़दूर वहाँ काम करते हैं।

यह सच है कि बोलीविया कच्चे माल के क्षेत्र में इतना सम्पन्न है, फिर इस देश में इतने सारे गरीब कैसे रहते हैं? और दूसरे देशों (लेटिन अमरीका के भी) की तुलना में यहाँ के लोगों का जीवन स्तर इतना

निम्न क्यों है?

वस्तुतः यह मुद्रा के देश से बाहर जाने के कारण है। यहाँ बहुत-से लोग अमीर हो गए हैं लेकिन अपना सारा धन विदेशों में निवेश करते हैं। और हमारी सम्पदा विभिन्न

समझौतों के माध्यम से बहुत ही कम मूल्य पर लालची पूँजीपतियों को सौंप दी जाती है, जिससे हमें कोई फायदा नहीं होता।

...बोलीविया की 60 प्रतिशत आय खनन द्वारा होती है। शेष आय तेल एवं अन्य स्रोतों से होती है। सरकारी खदानों में लगभग पैंतीस हज़ार मज़दूर काम करते हैं और निजी खदानों में भी लगभग पैंतीस हज़ार मज़दूर काम करते हैं।

पहले जब खदानें नयी थीं तब वे ख़ूब सारा टिन निकालते थे, लेकिन पिछले बीस साल में स्थितियाँ बदली हैं। अब उनमें अधिक टिन नहीं बचा है। अतः उन्होंने ब्लॉक केबिन की व्यवस्था शुरू की है। वे पहाड़ के भीतर डाइनामाइट से विस्फोट करते हैं। खनिक उसके भीतर से सारा पत्थर निकालते हैं। फिर उसमें से अयस्क निकालने के लिए उस पत्थर को मिल में पीसने के लिए भेज दिया जाता है। टनों पत्थर में से बहुत कम टिन निकल पाता है। ब्लॉक में किया जाने वाला यह काम बहुत कठिन और खतरनाक है। वहाँ इतनी धूल होती है कि आप एक मीटर दूरी तक भी नहीं देख सकते। वहाँ बहुत सी दुर्घटनाएँ होती रहती हैं क्योंकि कई बार मज़दूर सोचते हैं कि सारे डाइनामाइट फट चुके हैं और वहाँ काम के लिए जाते हैं, तो अचानक वहाँ विस्फोट हो जाता है और मज़दूरों के चीथड़े उड़ जाते हैं। इसलिए मैं नहीं चाहती कि मेरे पति ब्लॉक में काम करें, भले ही वहाँ काम करने वाले मज़दूर थोड़ा ज़्यादा कमा लेते हैं।

खदान के कामगार

खनन केन्द्र में बहुत तरह के समूह काम करते हैं। जैसे 'वेनेरिस्टा' अथवा 'वीनर्स' ऐसे खनिक होते हैं जो अपना काम खुद करते हैं और अपना अयस्क कम्पनियों को बेचते हैं। वेनेरिस्टा समूहों में काम करते हैं। वे टिन की चट्टान तक पहुँचने के लिए एक-डेढ़ मीटर चौड़ा और 15 मीटर गहरा छेद करते हैं। फिर वे रस्सी के सहारे नीचे उतरते हैं और अन्दर छोटी-छोटी सुरंगें बनाते हैं।

ऊपर: टिन खदान के भीतर का एक दृश्य जहाँ खनिक सुरंग में काम कर रहे हैं। लकड़ी के खम्बों और पटियों की मदद से सुरंग की छत और दीवार को मजबूती दी गई है।

नीचे: खदान के बाहर टिन अयस्क की ढुलाई हो रही है। ऊपर: टिन खदान की सँकरी सुरंगें, जहाँ धूल और डाइनामाइट के धुँए के बीच काम करना पड़ता है।

नीचे: कोका की पत्तियाँ, जिन्हें मज़दूर खदानों के

भीतर काम करते हुए चबाते हैं। खदान के भीतर मज़दूरों को भोजन उपलब्ध न होने के कारण वे इन पत्तियों को चबाते हैं। जिसमें वे सरक सकें। फिर चट्टान की दरारों में इकट्ठा अयस्क को तलाशते हैं। वहाँ कोई सुरक्षा नहीं होती। हवा का आवागमन नहीं होता। यह सबसे खराब काम होता है। इनमें ज्यादातर वे लोग होते हैं जिन्हें कम्पनी सिलिकोसिस (खनिकों को होने वाली एक आम बीमारी) के कारण रिटायर कर देती है। चूँकि रोज़ी-रोटी का कोई ज़रिया नहीं होता अतः जिन्दा रहने के लिए वे यह काम करते हैं। कुछ किसान जो पास के गाँव लल्लागुआ से आते हैं, वे वेनेरिस्टा के साथ काम करने लगते हैं। वेनेरिस्टा उन्हें एक दिन में 10 पेसो (बोलीविया की मुद्रा) अथवा आधा डॉलर देते हैं।

एक अन्य तरह के मज़दूर 'लोकेटारिओस' कहलाते हैं। वे भी कम्पनी को अयस्क बेचते हैं। लेकिन कम्पनी उन्हें फावड़ा, खन्ती अथवा डाइनामाइट कुछ भी नहीं देती। उन्हें सब कुछ खरीदना पड़ता है। कम्पनी उन्हें वे जगहें बताती है जहाँ पहले ही खनन हो चुका है। ऐसी जगह हमेशा कुछ-न-कुछ अयस्क बचा रह जाता है। कम्पनी इन 'लोकेटारिओस' को गुणवत्ता के हिसाब से दाम देती है।

कुछ मज़दूर 'लामेरोस' होते हैं। वे अयस्क को अलग करने का काम करते हैं। प्लाण्ट में कम्पनी अयस्क को दबाती है। इस प्रक्रिया में उसमें से एक द्रव निकलता है जिसमें टिन के अवशेष होते हैं। यह गाढ़े पानी वाली कीचड़ से भरी नदी में बदल जाता है। लामेरोस इसमें से टिन इकट्ठा करते हैं, साफ करते हैं और इसे कम्पनी को वापस कर देते हैं। कई बार कठिन परिश्रम के बाद भी उन्हें कुछ नहीं मिलता।

जहाँ खनिक रहते हैं

'सिगलो ग' एक खनन शिविर है और यहाँ के सारे मकान कम्पनी के हैं। बहुत से खनिक पास के लल्लागुआ गाँव अथवा पास के अन्य गाँव में रहते हैं।

शिविर में खनिकों के घर पूरी तरह से कर्ज़ पर होते हैं। मकानों की कमी के कारण वे भी हमें तुरन्त नहीं मिलते। अधिकांश खनिक बिना मकान मिले पाँच-दस साल तक काम करते रहते हैं, अतः वे पास के गाँव में किराए का मकान लेकर रहते हैं।

कम्पनी में काम करने के दौरान ही वे उसके मकान में रह सकते हैं। खनिक के मरने या पेशेगत बीमारी के कारण रिटायर होने के बाद उसकी विधवा या पत्नी को घर से निकाल दिया जाता है। उसे कहीं और चले जाने के लिए

90 दिन का समय दिया जाता है।

हमारे घर बहुत छोटे होते हैं। उसमें 5 गुना 5 वर्ग मीटर का कमरा होता है। उसी में रहना, खाना बनाना और सोना सभी करना पड़ता है। उसी में मेरे सात बच्चे सोते, पढ़ते हैं। हम वहीं खाते हैं और बच्चे खेलते हैं। पीछे के एक छोटे कमरे में एक मेज थी और एक बिस्तर जिस पर मैं और मेरे पति सोते थे। हमारे पास जो भी थोड़ा-सा सामान था उसे एक के ऊपर एक रखना पड़ता था। कुछ बच्चे बिस्तर पर सोते तो कुछ नीचे।

पहाड़ों में बहुत सर्दी पड़ती है, अतः हम पुआल के बिस्तर बनाते हैं। असली गद्दे तो 800 से 1000 पैसे के मिलते हैं। हम उन्हें खरीद नहीं सकते इसलिए अधिकांश खनिकों के पास पुआल के गद्दे ही हैं। मेरे घर में एक भी असली गद्दा नहीं है। पुआल के गद्दे ज्यादा दिन नहीं टिकते और आराम दायक भी नहीं होते पर हम क्या कर सकते हैं। हम इन्हीं गद्दों की इधर-उधर से मरम्मत करते रहते हैं।

कम्पनी हमें दिन में कुछ घण्टे और रात में बिजली देती है। हमें पीने का पानी भी मिलता है, लेकिन वह घर में नहीं मिलता। मोहल्ले में ही सार्वजनिक नल से पानी लेना पड़ता है।

इस तरह, हमारी जिन्दगी में बहुत-सी सुविधाएँ नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हमारे घर में स्नानागार नहीं होते हैं। हमें सार्वजनिक स्नानागार में नहाना होता है। पूरे कैम्प के ढेर सारे लोगों के लिए 10-12 शॉवर होते हैं। इनमें एक दिन पुरुष नहाते हैं और एक दिन औरतें। शॉवर तभी काम करता है जब तेल होता है क्योंकि तेल से ही पानी गर्म होता है।

यही नहीं केवल कम्पनी के तकनीशियनों के घरों में शौचालय होते हैं। पूरे मोहल्ले में केवल दस सार्वजनिक शौचालय हैं। वे बहुत जल्दी गन्दे हो जाते हैं और उनमें पानी के नल नहीं हैं सुबह कम्पनी के कर्मचारी उन्हें साफ करते हैं लेकिन फिर सारा दिन वे गन्दे रहते हैं। पानी नहीं होने पर वे कई दिनों तक गन्दे रहते हैं, फिर भी हमें उन्हें इस्तेमाल करना पड़ता है।

...संख्या में कम होने के कारण इन तकलीफ-देह मकानों को भी पाना आसान नहीं है। इसे पाने के लिए भी प्रतियोगिता होती है। एक खनिक जो दस साल काम कर चुका हों उसे 10 अंक मिलते हैं। अगर उसकी पत्नी और सात बच्चे हों तो उसके अंक 8 कर दिए जाते हैं। अगर वो खदान के भीतर काम करता है तो उसे ज़्यादा अंक मिलते हैं। इसलिए मकान पाने के लिए निश्चित अंक अर्जित करने

पड़ते हैं।

कैम्प में अधिकांश मकान उस समय के हैं जब कम्पनी निजी (1952 के पहले) हाथों में थी। खदानों के राष्ट्रीयकरण के बाद भी सब पहले जैसा ही चलता रहा। बहुत-सी शिकायतों और हड़तालों के बाद हम प्रबन्धन को इस बात के लिए तैयार करा पाए कि वे हमारे मकानों की मरम्मत कर दें जो गिरने की कगार पर हैं। मरम्मत से कुछ खास फायदा नहीं होता, हल्की बारिश होती है और वे फिर गिर जाते हैं।

मकानों की कमी के कारण कुछ लोग उन लोगों के घरों में रहते हैं जिनके पास मकान होते हैं। उन्हें 'अग्रेगाडोस' अथवा अतिरिक्त किराएदार कहते हैं। जैसे कि मेरे पास मेरी तीन बहनें आई थीं, अतः मैंने रसोईघर में बिस्तर लगाकर उनके लिए एक कमरा तैयार किया। रसोई मैंने बाहर छत के नीचे बना ली हम वर्षों तक इसी स्थिति में रहे। अग्रेगाडोस हमेशा रिश्तेदार ही नहीं होते। वे दोस्त भी हो सकते हैं।

निश्चित रूप से कम्पनी के मजदूरों को मकान देने के बारे में कानून थे, पर वे किसी के लाभ के नहीं थे। और अन्ततः देश को इतने बड़े पैमाने पर मदद करने के बावजूद खनन मजदूरों को छोटा-सा घर भी नहीं मिलता है।

खनिक कैसे काम करते हैं ?

खदान में दो तरह की कार्य पद्धति और मापदण्ड होते हैं: एक-तकनीशियनों के लिए, दूसरी-खनिकों के लिए।

खदान में काम कभी बन्द नहीं होता। दिन-रात काम चलता रहता है। खनिकों के लिए तीन शिफ्ट में काम होता है। कुछ लोग प्रति माह शिफ्ट बदलते हैं, कुछ हफ्तों में, तो कुछ प्रति सप्ताह। मेरे पति प्रति सप्ताह शिफ्ट बदलते हैं।

जब मजदूर पहली शिफ्ट में जाते हैं तो हम औरतों को अपने पति का नाश्ता तैयार करने के लिए सुबह चार बजे उठना पड़ता है। दोपहर तीन बजे खदान से बाहर निकलने तक वे कुछ नहीं खाते हैं। खदान के भीतर खाना ले जाने का कोई तरीका नहीं होता, इसकी अनुमति भी नहीं है। और अगर वे ले भी जाएँ तो वह खदान के भीतर खराब हो जाएगा। वहाँ बहुत अधिक धूल और गर्मी होती है। अगर वे वहाँ कुछ खाते हैं तो वह उन्हें नुकसान करेगा। कम्पनी चाहे तो मजदूरों के लिए भीतर ही साफ-सुथरा खाने का कमरा बना सकती है, लेकिन उसकी इसमें रुचि नहीं है। कम्पनी ऐसी सुविधाएँ केवल तकनीशियनों को ही देती है।

उदाहरण के लिए इंजीनियर कम घण्टे काम करते हैं। उनका खाना खदान के भीतर आता है, वे खाना खदान के भीतर खाते हैं। दूसरी ओर मजदूर सुबह पाँच बजे नाश्ता करके दोपहर तीन बजे तक भूखे रहते हैं। तो, वे इतनी देर बिना कुछ खाए खदानों में कैसे बने रहते हैं? वे कोका की पत्ती साथ ले जाते हैं और उसे चबाते रहते हैं। इसका स्वाद कड़वा होता है, और इसे चबाने से भूख नहीं लगती। खनिक उसे इच्छा-शक्ति को बनाए रखने के लिए चबाते रहते हैं।

खदान में काम करना बहुत ही थकाने वाला होता है। मेरे पति लौटकर आते ही बिना कपड़े बदले तुरन्त सो जाते हैं। वो दो-तीन घण्टे सोते हैं फिर खाना खाते हैं। रात की शिफ्ट ज्यादा खराब होती है। खनिक रात भर काम करते हैं और लौटकर दिन में सोना पड़ता है। लेकिन चूँकि, हमारे घर छोटे और पास-पास होते हैं, और बच्चों को खेलने की जगह नहीं होती इसलिए मजदूर सो नहीं पाते। मेरे पति और अन्य मजदूर रात की शिफ्ट से नफरत करते हैं, लेकिन उन्हें कम्पनी के नियमों का पालन करना पड़ता है वरना उन्हें काम से निकाल दिया जाता है।

.....एक खनिक की औसत आयु लगभग 35 साल होती है। इसके बाद वह पूरी तरह खदान की बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। अयस्क निकालने के लिए खदान के भीतर बहुत सारे विस्फोट किए जाते हैं। उसके धूलकण मुँह और नाक के जरिए मजदूरों के फेफड़ों में चले जाते हैं। यह धूल अन्ततः फेफड़ों को नष्ट कर देती है। उनके मुँह काले-बैंगनी हो जाते हैं, वे फेफड़ों के टुकड़े उलटने लगते हैं और मर जाते हैं। यह खदान की परम्परागत बीमारी है, जिसे सिलिकोसिस कहते हैं।

.....सरकार प्रचार करती है कि खनिकों को मुफ्त आवास, पीने का पानी, बिजली, शिक्षा, सस्ता राशन और अन्य चीजें मिलती हैं। कोई 'सिगलो ग्' आकर वस्तु स्थिति देखे।

.....हमें इस दुर्दशा में रखने के लिए कम्पनी हमें बहुत कम वेतन देती है। उदाहरण के लिए मेरे पति खदान के भीतर एक विशेष प्रभाग में काम करते हैं। अब उन्हें एक दिन के 28 पैसे मिलते हैं। यानी प्रतिमाह 840 पैसे। हमें परिवार सब्सिडी के रूप में 347 पैसे, 135 पैसे, मँहगाई भत्ता और रात की शिफ्ट के लिए कुछ अतिरिक्त भुगतान होता है। कुल मिलाकर उन्हें 1500 या 1600 पैसे प्रतिमाह मिलता है। कम्पनी उसी में से सामाजिक सुरक्षा फण्ड, राशन का मूल्य, स्कूल बिल्डिंग फण्ड एवं अन्य

चीजों के लिए कटौती करती है। यह सब देखते हुए मेरे पति को कुल 500 से 700 पैसे प्रतिमाह मिलते हैं। हमारे नौ लोगों के परिवार को इसी में गुज़ारा करना पड़ता है। बहुत-से मजदूर हमसे भी खराब हालात में रहते हैं।

मुनाफा कहाँ जाता है?

हमारे एक नेता ने, जो बाद में मारे गए, एक बार हमें हमारी इस स्थिति का कारण बहुत ही साधारण तरीके से समझाया था। उन्होंने हमसे कहा- 'सिगलो ग्' में दस हजार मजदूर प्रतिमाह 300-400 टन टिन का उत्पादन करते हैं। फिर उन्होंने कागज का टुकड़ा निकाला और कहा-यह प्रतीक है उस उत्पादन का जिसे हम उत्पन्न करते हैं। यह अपने-आप में एक माह में हमारे द्वारा उत्पन्न पूरा मुनाफा है। इसका वितरण कैसे होता है ?

फिर उन्होंने उस कागज के टुकड़े को पाँच बराबर भागों में बाँट दिया। इन पाँच में से चार भाग विदेशी पूँजीपतियों के पास चले जाते हैं और बोलीविया के पास केवल एक हिस्सा रह जाता है।

....इस पाँचवे हिस्से में से भी आधा सरकार ट्रांसपोर्ट, कस्टम और निर्यात पर खर्च के तहत रख लेती है। पूँजीपतियों द्वारा मुनाफा कमाने का यह एक और तरीका है। हमारे मामले में, हम ट्रकों से अयस्क पेरू के गुआकी बन्दरगाह ले जाते हैं। यहाँ से अयस्क इंग्लैण्ड के विलियम हार्वे धातु फ़ैक्ट्री ले जाया जाता है। जहाँ से संयुक्त राष्ट्र अमरीका लाया जाता है। जिससे वे अन्य चीजें तैयार कर सकें। बाद में बोलीविया समेत अन्य देश उन्हें अमरीका से ऊँचे दाम पर खरीदते हैं। यह सब करते हुए पूँजीपति इस पाँचवें हिस्से में से भी लगभग आधा ले लेते हैं, जो कि हमारा था।

जो आधा बचता है उसमें से भी कुछ हिस्सा सरकार अपने लाभ के लिए, सैन्य बलों के लिए, मंत्रियों के वेतन के लिए और उनकी विदेश यात्राओं के लिए हड़प लेती है। इन्हीं पैसों को वे विदेशी शहरों में निवेश करते हैं, जिससे अगर वे सत्ता से हट जाते हैं तब भी वे पहले से जमा इस धन के बल पर करोड़पति के तौर पर दूसरे देशों में जा सकें।

जो थोड़ा-बहुत बचता है उसमें से छोटा-सा हिस्सा सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा सेवाओं, स्वास्थ्य, अस्पताल, बिजली, मजदूरों को दिए जाने वाले राशन पर खर्च किया जाता है। वे इस तरह लगातार हड़पते और लेते जाते हैं।

एक खनिक की पत्नी की दिनचर्या

मेरे दिन की शुरुआत सुबह चार बजे हो जाती है, खासतौर से तब जब मेरे पति की पहली शिफ्ट होती है। मैं उनका नाश्ता तैयार करती हूँ। उसके बाद मैं साल्टेनास (बोलीविया में बनाई जाने वाली छोटी कचैड़ी जिसमें गोश्त, आलू, काली मिर्च एवं अन्य मसाले भरे जाते हैं) बनाती हूँ। मैं प्रतिदिन 100 साल्टेनास बनाती हूँ और इन्हें सड़कों पर बेचती हूँ, क्योंकि अपने पति के वेतन में हम अपनी जरूरतें पूरी नहीं कर पाते। हम रात में ही आटा गूँधकर रख लेते हैं और सुबह चार बजे बच्चों को खिलाते हुए मैं साल्टेनास बनाती हूँ। बच्चे मेरी मदद करते हैं। वे आलू और गाजर छीलते हैं और आटा गूँधते हैं। फिर स्कूल जाने वाले बच्चे तैयार होते हैं और मैं रात में भिगोए कपड़े धोती हूँ।

आठ बजे मैं साल्टेनास बेचने निकल जाती हूँ। जो बच्चे दोपहर में स्कूल जाते हैं वे मेरी मदद करते हैं। हमें कम्पनी की राशन की दुकान से सामान भी लाना होता है। वहाँ लम्बी लाइन लगती है, सामान लेने के लिए हम ग्यारह बजे तक इन्तजार करते हैं। हमें मीट, सब्जी व तेल के लिए लाइन लगानी पड़ती है।

एक लाइन के बाद दूसरी लाइन में लगना पड़ता है। ये सब सामान अलग-अलग जगह पर मिलते हैं। साल्टेनास बेचते हुए हम दुकान से सामान लेने के लिए लाइन में लगते हैं। जब मैं सामान लेने जाती हूँ। तो बच्चे साल्टेनास बेचते हैं और फिर बच्चे लाइन में लगते हैं तो मैं साल्टेनास बेचती हूँ।

100 साल्टेनास से मुझे औसतन 20 पैसे की आय हो जाती है। मैं भाग्यशाली हूँ क्योंकि लोग मुझे पहचानते हैं और मुझसे खरीदते हैं। मेरी कुछ महिला मित्र प्रतिदिन 5 से 10 पैसे कमा पाती हैं।

मैं और मेरे पति जो कमाते हैं उससे हम केवल खा-पहन ही पाते हैं। खाना बहुत ही महँगा है। कपड़ा और भी महँगा है। मैं यथासम्भव कपड़े खुद सिलती हूँ। हम बने-बनाए कपड़े नहीं खरीदते। हम ऊन खरीदते हैं और बुनते हैं।

इस तरह मैं सुबह 8 से 11 बजे तक साल्टेनास बेचती हूँ। सामान खरीदती हूँ और 'हाउस वाइज़ कमेटी' का काम भी करती हूँ। वहाँ सलाह माँगने आई बहनों से बातचीत करती हूँ।

दोपहर को खाना बनाना होता है क्योंकि बच्चे स्कूल से लौट आते हैं। मुझे उनका होमवर्क करवाना होता है। दोपहर में हमें कपड़े धोने होते हैं। हमारे यहाँ कोई

लॉण्ड्री नहीं है। हमें पम्प से पानी लाना होता है। फिर अगले दिन की साल्टेनास की तैयारी करनी होती है।

कभी-कभी दोपहर में कमेटी के कुछ जरूरी मसले सुलझाने होते हैं। कमेटी का काम प्रतिदिन होता है। वैसे यह पूरी तरह से ऐच्छिक काम है।

जब मेरे पति की सुबह की शिफ्ट होती है तो वह रात के दस बजे सो जाते हैं। दोपहर की शिफ्ट होने पर वे आधी रात तक बाहर रहते हैं। रात की शिफ्ट होने पर वे अगले दिन आते हैं। अतः मुझे उस हिसाब से सेट होना पड़ता है।

ज्यादातर औरतों को मदद के लिए कुछ-न-कुछ करना पड़ता है। जैसे मैं साल्टेनास बेचती हूँ, कोई सिलाई करती है, कोई बुनाई, तो कोई कालीन-कम्बल बनाती है। कुछ सड़कों पर अन्य सामान बेचती हैं। अगर कोई औरत काम नहीं करती है तो उसकी माली हालत बहुत खराब हो जाती है।

मैं सामान्यतः आधी रात को बिस्तर पर जाती हूँ और केवल 4-5 घण्टे ही सोती हूँ। हमें इसकी आदत पड़ गई है।”

कुछ नए तथ्य

डोमितिला द्वारा लिखा गया यह ब्यौरा लगभग 30-40 साल पुराना है। तब से लेकर अब तक बोलीविया में भी कुछ परिवर्तन आए हैं। उन परिवर्तनों को जानने के लिए यहाँ एक और छोटा-सा ब्यौरा पढ़ते हैं- पोटासी शहर की खदान के बारे में।

दो अमरीकी युवा क्रिस और इरिन मोटर सायकल पर दुनिया की सैर पर निकले थे। सन् 2002 में वे बोलीविया पहुँचे। बोलीविया के कई इलाकों में घूमते हुए वे प्रसिद्ध खनन क्षेत्र पोटासी भी गए। पोटासी की खदानों के बारे में उन्होंने अपने अनुभव 'अल्टीमेट जर्नी डॉट कॉम' में लिखे हैं। उनके ब्यौरे के कुछ सम्पादित अंश प्रस्तुत हैं।

“....समुद्र सतह से लगभग चार हजार मीटर पर स्थित पोटासी शहर किसी समय चाँदी की खदानों के लिए प्रसिद्ध था। लेकिन अब यहाँ निम्न ग्रेड के चाँदी, टिन, जिंक, सीसा के अयस्कों का खनन किया जाता है।

6 जून 2002 को हम पोटासी में थे। हमें खदान की सैर के लिए जाना था। हमारी सैर का प्रबन्ध हो गया था। साढ़े चार घण्टे की यह सैर साढ़े सात डॉलर प्रति व्यक्ति थी। सुबह दस बजे हम रवाना हुए। सबसे पहले उस जगह पहुँचे जहाँ हम खनिकों को बतौर तोहफा देने के लिए कोका की पत्तियाँ, सिगरेट, पानी और अनाज से बना

अल्कोहल खरीद सकते थे। हमने वहाँ से ये सब खरीदा। साथ ही खदान में उतरने के लिए लगने वाला ज़रूरी साज-सामान लिया।

मिनी बस ने हमें एक खदान के प्रवेश द्वार पर उतारा। इस पहाड़ी इलाके में लगभग 200 खदानें हैं। यहाँ कोई भी निजी खदान नहीं है, खदानों में खनन छोटी-छोटी सहकारी समितियों द्वारा किया जाता है। समिति में 5 लोग होते हैं।

साजो-सामान के साथ हम खदान के प्रवेश द्वार से आगे बढ़े। द्वार के पास एक छोटा-सा कमरा था। वहाँ खदान और खनिकों के संरक्षक देव की प्रतिमा थी। हमारे गाइड ने संरक्षक देव को कोका की पत्तियों एवं अल्कोहल का भोग चढ़ाया, शायद इससे देव प्रसन्न होते हैं।

खदान की गहराई में जाते-जाते तापमान बढ़ने लगा। चट्टानी सतह पर सरकते हुए, रेंगते हुए नीचे उतरना काफी कठिन था। नीचे खदान की सैर के दौरान हम कई खनिकों के पास से गुज़रे। सभी हमारी कल्पना से कहीं ज़्यादा कठोर परिश्रम कर रहे थे। जिन गाड़ियों में अयस्क ढोया जा रहा था, तीन-चार खनिक मिलकर उन्हें खींच या धकिया रहे थे। खनिकों के लिए डायनामाइट महंगा होने की वजह से (एक डॉलर में एक डायनामाइट की रॉड) खनन का काफी काम खनिक हाथों से गैती-सब्लल जैसे औज़ारों से कर रहे थे। खनिकों की औसत दिहाड़ी साढ़े चार डॉलर है। जब हम खनिकों के एक समूह के पास से गुज़र रहे थे तब हमने उन्हें कोका की पत्तियाँ, सिगरेट और पानी दिया। गाहे-बगाहे सुस्ताते हुए खनिक समूह को हमने अल्कोहल भी दिया। खनिक आठ घण्टे, बिना भोजन अवकाश के, लगातार काम करते हैं। कोका की पत्तियाँ खनिकों की भूख को मारती हैं और काम करने के लिए ताकत देती हैं।

नीचे हवा चट्टानों के महीन कणों और धूल से भरपूर थी। नाक पर कपड़ा रखकर हम साँस ले रहे थे। हमारे एक साथी को अस्थमा था, वो इनहेलर का डोज़ ले रहा था।

सैर पूरी करके, खदान से बाहर निकलते हुए इतनी कठिन परिस्थितियों में काम करने वालों के लिए हमारे दिल में आदर भाव था....।”

डोमितिला और क्रिस-इरिन के अनुभवों को पढ़ते हुए यह तो समझ में आता है कि खनिकों के

हालात में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है। 1985 के आस-पास विश्व बाज़ार में टिन की माँग कम होने के साथ बोलीविया में शासन ने भी ज़्यादातर छुटपुट टिन खदानों को अपने नियंत्रण से मुक्त कर दिया। इन खदानों में खनिकों की सहकारी समितियों ने खनन की कोशिश की। हाल के वर्षों में दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों द्वारा मुहैया सस्ते टिन अयस्कों से बोलीविया को कड़ी टक्कर मिली। कम कीमत पर उत्पादन बढ़ाने के लिए बोलीविया ने टिन खनन में कुछ खदानें कॉर्पोरेट सेक्टर के हाथों में सौंप दी हैं।

पोटासी में औपनिवेशिककालीन दौर की वास्तुकला भी शहर की भव्यता को बढ़ाती है। यूनेस्को ने इस शहर की अनेक इमारतों को सूचीबद्ध कर उन्हें विश्व विरासत की धरोहर घोषित किया है। पोटासी पर्यटकों का पसन्दीदा शहर है इसलिए यहाँ की खस्ताहाल खदानों और भूख मारकर काम कर रहे खनिकों को सहजता से पर्यटन की वस्तु बना दिया गया है।

हाल के वर्षों में खनिज अयस्कों के उत्पादन में संघर्ष कर रहे बोलीविया में नेचुरल गैस और तेल के भण्डारों की पुष्टि के साथ शासन ने इन भण्डारों का राष्ट्रीकरण कर अपना अधिकार बना लिया है तथा इसके लिए बाज़ार तलाशना शुरू कर दिया है।

मौजूदा दौर में लीथियम धातु की भारी माँग है। रीचार्जबल बैटरियों में इसका उपयोग होता है। बोलीविया में लीथियम के प्रचुर अयस्क हैं। बोलीविया लीथियम के प्रमुख सप्लायर के रूप में उभरा है।

वैश्वीकरण और निजीकरण के इस दौर में बोलीवियाई अर्थव्यवस्था मिश्रित मॉडल पर चल रही है। कुछ खदानें व उद्योग विदेशी कम्पनियों के लिए खुले हैं तो कुछ देश के पब्लिक सेक्टर के हाथों में हैं।

डोमितिला: अपने जीवन के कई दशक खनिकों के हक और सामाजिक न्याय की लड़ाई में लगाए हैं। अभी 75 बरस की उम्र में भी मोबाइल स्कूल प्रोजेक्ट पर काम कर रही हैं।

माधव केलकर: संदर्भ पत्रिका से सम्बद्ध।

मूल किताब: लेट मी स्पीक - डोमितिला बारिओस डि चुन्गारा, मन्थली रिव्यू प्रेस 1978

हिन्दी अनुवाद: सुनो मेरी कहानी: मेरी जुबानी

अनुवाद: शीरी: घुमंतू अनुवादक हैं।

(पीएनएन)

ग्लोबल गाँव के देवता लूट तंत्र के चेहरों की पहचान संजय गौतम

चाहे सूखे गोबर के उपले उड़ जाएँ
पशु उड़ जाएँ पेड़ उड़ जाएँ
पत्थर और पहाड़ उड़ जाएँ
पर मेरे शब्द न खाली जाएँ

ये पंक्तियाँ एक 'असुर' मंत्र का हिस्सा हैं, जिन्हें रणेन्द्र ने इस उपन्यास के प्रथम पृष्ठ पर उद्धृत किया है। वस्तुतः यह उपन्यास असुर जनजाति को केंद्र में बताकर लिखा गया है, जिनकी संख्या कम होती जा रही है, लेकिन वह अभी भी संघर्षरत है। शहरी सभ्यता की अवधारणा में असुर का अर्थ ही दानव, दैत्य इत्यादि से किया जाता है। मिथकीय किंवदंतियों, पुराकथाओं से भी हमारी कल्पना में असुर एक भयानक रूप में ही बैठा हुआ है। उपन्यास का मुख्य वाचक 'मैं' नौकरी की विवशता में झारखण्ड के एवं इलाके में आवासी कन्या विद्यालय में अध्यापक नियुक्त होकर जाता है। धीरे-धीरे वह वहाँ रहने लगता है। वहीं उसे असुर जनजाति के बारे में जानकारी होती है और वह 'असुरों' के इतिहास से परिचित होता है। इस इतिहास से परिचय कराते हैं रुमसुम जैसे पढ़े-लिखे असुर पात्र। उपन्यास का बाहरी मैं धीरे-धीरे असुर जाति के इतिहास, सभ्यता के संघर्ष में जंगल में उनके सिमटते जाने की यात्रा, उनकी मौजूदा समस्याओं एवं वैश्वीकरण के बाद स्थानीय नेताओं से लेकर वैश्विक उद्योगपतियों तक उभरे हुए छल-छद्म में धँसता चला जाता है। इसी प्रक्रिया में उपन्यास की कथा बुनी जाती है।

उपन्यास पहले समय हम इस तथ्य से गुजरते हैं कि असुर जाति के पास लोहा पिघलाने एवं उसका औजार बनाने की कला थी। कृषि सभ्यता और इनके बीच भी संघर्ष हुआ। सभ्यता की मात्रा में इनके साथ आक्रामक व्यवहार हुआ और इन्हें लगातार विस्थापित किया गया। ये शिक्षा से वंचित होते गए। आज के समय में इनके लिए स्कूल खोला भी गया तो कामचलाऊ स्कूल, जहाँ न ढंग की शिक्षा दी जाती है, न खाना-पीना, जबकि पास में ही भव्य स्कूल खुला होता है, जहाँ सारी आधुनिक व्यवस्थाएँ की जाती हैं।

झारखंड के बोयलबीघा अंचल को आधार बनाकर लिए गये इस उपन्यास में लेखक ने स्थानीय स्तर पर जमीन

के संघर्ष को उभारा है और साथ ही बाक्साइट खदानों के चलते बने हुए गड्डों, उनसे फैलती मलेरिया जैसी बीमारियाँ, कंपनी और स्थानीय दलालों के बीच गठजोड़ धर्म के नाम पर शक्ति का केन्द्र बने धोखेबाज बाबाओं, ऐय्याश कंपनी अधिकारियों, स्थानीय असुरों को निचले स्तर की नौकरी देकर उनका उपहास बनाने की प्रक्रिया इत्यादि को करीने से बुना है। संक्षिप्त कलेवर के इस उपन्यास में लालचन, रुमसुम, ललित जैसे पात्रों की नियति और गति से मौजूदा सत्ता तंत्र का समूचा छलछद्म सामने आता है। इस तंत्र के डाक्टर रामकुमार जैसे सदाशयी सादान या 'मैं' जैसे बाहरी संवेदनशीलता के बावजूद निर्णायक भूमिका नहीं निभा पाते, बल्कि कंपनी अधिकारी, नेता, कथित धर्मसत्ता, पुलिस द्वारा रचे गए कुटिल चक्र में फँस जाते हैं। इस कुचक्र द्वारा रुमसुम और लालचन जैसे सचेत पात्र पागलपन की नियति तक पहुँचा दिए जाते हैं। लालचन को तो अपनों के बीच ही पराया बना दिया जाता है। रुमझुम प्रलाप की अवस्था तक पहुँच जाते हैं। इसी तरह की मानसिक स्थिति में वह रेड इंडियन्स के सर्वमान्य मुखिया चीफ सियेटल का 1668 ई0 का एक गीत पढ़ते हैं, जिसका एक अंश निम्नलिखित है—

हमारे कदमों के ठीक पीछे
हमारा दुर्भाग्य चल रहा है
एक ज़ख्मी हिरण
अपने पीछे भागते शिकारी की आवाज सुनकर
अपने आपको
अपनी पूर्ण मृत्यु के लिए तैयार कर रहा है।”

इतने पुराने गीत का यह अंश उपन्यास के वानक को बार-बार याद आता है। वह विस्थापित होती असुर सभ्यता के इतिहास को खंगालते हुए रेड इंडियन्स के संघर्ष तक जाता है। एतवारी और ललिता के साथ स्नेह, प्रेम और संबंध से उपन्यास में प्रेम की ऊष्मा का भी संचार दिखता है। सत्ता तंत्र के खिलाफ उपजा हुआ आक्रोश और विरोध विफल होने के बाद एक बड़े विरोध की तैयारी होती है, लेकिन उसे लैंड माइन्स के जरिये उड़ा दिया जाता है, जिससे उपन्यास के सभी जीवंत पात्र मौत के शिकार हो

जाते हैं।

साइकिल से उनके पीछे जाते हुए वाचक को वहाँ बिखरी हुई देह की जगह पर पिघलता हुआ लोहा दिखता है। उसके पैर के पास से भी लोहा पिघलता हुआ महसूस होता है, जो चुंबक की तरह उसे खींचता है। यही पिघला हुआ लोहा पलाश के फूलों में लाल-लाल दहकता है, जिसकी धार तेज होने का संकेत है। वाचक राजधानी के विश्वविद्यालय से सुनील असुर के निकलने और आंदोलन को संभालने की सूचना देकर संघर्ष और आंदोलन की संभावना को बनाये रखता है। वह कहना चाहता है कि 'ग्लोबल गाँव के देवता' फिलहाल भले ही अपनी सफलता पर गर्वस्फीत होकर मुस्करा ले, लेकिन यह स्थायी रहने

वाली नहीं है। छोटे औपन्यासिक कलेवर में रणेन्द्र ने 'सभ्यता' की यात्रा में जंगल एवं नगर के हितों के संघर्ष के विभिन्न आयामों को उभारने का प्रयास किया है। इस बात पर भी जोर दिया है कि यह संघर्ष सफलता के अंजाम तक तभी पहुँचेगा जब आदिवासी जनजातियों के साथ सादान एवं बाहरी लोग भी आएँगे। लूट तंत्र के चेहरों की पहचान उपन्यास में की गई है। संघर्ष अभी बाकी है।

पुस्तक — ग्लोबल गाँव के देवता

लेखक — रणेन्द्र

प्रकाशन— भारतीय ज्ञानपीठ

मूल्य — 80.00 (पेपरबैक संस्करण)

सजप की होशंगाबाद में संपन्न राष्ट्रीय कार्यकरिणी

(11-13 दिसंबर 2015) में पारित राजनीतिक प्रस्ताव

बेंगलुरु में अगस्त में हुई समाजवादी जन परिषद की राष्ट्रीय कार्यकरिणी की बैठक के बाद होशंगाबाद में सजप की कार्यकरिणी की बैठक हो रही है। इस बीच देश और दुनिया में कई घटनाएं हो चुकी हैं, जिसपर पार्टी को अपना विचार प्रकट करना जरूरी है।

सबसे पहले पार्टी चेन्नई में आई भयंकर बाढ़ में हुई जानमाल की हानि पर दुख प्रकट करती है और इसमें मारे गए लोगों के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है। इस घटना में लाखों लोग बेघरबार और रोजी रोजगार से हीन हो गए हैं। पार्टी की संवेदना उन तमाम लोगों के साथ है जो इसमें प्रभावित हैं और उनसे साहसपूर्वक इस संकट का मुकाबला करने को अपना नैतिक समर्थन देती है।

इस बीच देश और दुनिया में काफी राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों का दौर आगे भी जारी रहनेवाला है। लेकिन चिंता की बात है कि यह परिवर्तन किसी सकारात्मक दिशा में नहीं हो रहे हैं। समाजवादी जन परिषद जिन समता-समानता-लोकतंत्र के मूल्यों को लेकर चलती है, उसके अनुरूप होना तो दूर, ये परिवर्तन देश के संविधान के अनुरूप भी नहीं हैं। इन मसलों पर सजप की होशंगाबाद में आयोजित राष्ट्रीय कार्यकरिणी गंभीर चिंता प्रकट करती है और देश की सरकारों से मांग करती है कि वह अपनी गलतियों को सुधारे और संविधान व समाजवाद

के अनुकूल नीतियां को लागू करने की दिशा में अग्रसर हों।

किसानों की आत्महत्या कई साल पहले से चली आ रही है। अभी हाल में ही महाराष्ट्र के मराठवाड़ा इलाके में एक सप्ताह में 27 किसानों द्वारा आत्महत्या किए जाने की अखबारी रिपोर्ट सामने आई हैं। वहीं ओडिशा में निजी साहूकारों से कर्ज लेकर खेती करनेवाले चार किसानों द्वारा आत्महत्या किए जाने की घटना भी विचलित करनेवाली है, क्योंकि इन इलाकों में अब तक यह प्रवृत्ति नहीं थी। सजप का मानना है कि ये आमहत्याएं नवउदारीकरण और हरित क्रांति की नीतियों का परिणाम है। जिन इलाकों में हरित क्रांति का अधिक असर नहीं पड़ा, वहां अब तक किसानों में आत्महत्या की नौबत नहीं आई थी। असल में नई हरित क्रांति के दौर में बैंकों से बेतहाशा कर्ज लेकर मशीनीकृत खेती का चलन था, जिसमें भारी मात्रा में पूंजी निवेश करना होता है। अगर किसी कारण से कृषि में क्षति हुई तो कर्ज का भुगतान मुश्किल हो जाता है। ऐसे में किसानों के सामने परिवार को बचाने का एकमात्र रास्ता बचता है कि वह आत्महत्या कर ले।

लेकिन इस आत्महत्या कांड में जो नई प्रवृत्ति विकसित हुई है वह यह कि अब आदिवासी किसान भी इस दायरे में आने लगे हैं। मध्य प्रदेश के बैतूल इलाके में हाल के दिनों में पांच आदिवासी किसानों द्वारा आत्महत्या की

घटनाएं सामने आई हैं। देश की सरकारें इसपर गौर करने की बजाये और किसान विरोधी काम कर रही है। अभी हाल में गोल्डन चावल और सरसों के आनुवंशिक संवर्धित (जीएम) बीजों के उपयोग की अनुमति बिना संसद और जनता की राय लिए मुंबई और दिल्ली में दे दी गई है। यहां इन किस्मों का उपयोग शुरू भी हो गया है। आगे अन्य फसलों को भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को सौंपने की तैयारी है। सजप एक ओर जहां इन किसानों से आत्महत्या जैसे कदम न उठाने की अपील करती है और सरकार की किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ उठ खड़े होने का आह्वान करती हैं वहीं दूसरी ओर सरकार को भी कृषि नीति और आर्थिक नीतियों को बदलकर इसे जनाभिमुख बनाने की मांग करती है।

देश में तत्काल में जो समस्या उत्पन्न हुई है, वह सांप्रदायिक उभार की है। यह उभार केंद्र में नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में आई एनडीए सरकार और इसके बाद चार राज्यों में लगातार भाजपा नीत गठबंधन की जीत के बाद तेजी से आया है। भाजपा और संघ परिवार जैसी ताकतों के द्वारा इस मौके का फायदा उठाकर समाज को सांप्रदायिक आधार पर विभाजित करने की रणनीति अपनाई जा रही है। उत्तर प्रदेश में लव जिहाद के बाद हाल में दादरी में गोमांस रखने के गलत आरोप लगाकर एक मुसलमान की हत्या की घटना इसका पर्याप्त उदाहरण है। प्रतिक्रियावादी ताकतों द्वारा नरेद्र डाभोलकर, गोविंद पनसारे की हत्या के बाद बेंगलुरु में प्रो. कलबुर्गी जैसे बुद्धिजीवियों की हत्या कर देश में भय का माहौल बनाया जा रहा है।

हालांकि भाजपा-एनडीए के इस उभार को झटके भी लगे हैं। पहले दिल्ली विधानसभा और हाल में संपन्न बिहार विधानसभा चुनाव में करारी शिकस्त के बाद संघ परिवार पर लगाम लगा है और वे उत्तर प्रदेश, पंजाब, असम व पश्चिम बंगाल में आसन्न विधानसभा चुनावों के लिए अलग रणनीति पर विचार करने को मजबूर हुए हैं। इसके लिए सजप बिहार की जनता को एक बार फिर धन्यवाद देती है। इसके पहले भी बिहार की जनता ने 1977 में केंद्र की तानाशाह इंदिरा सरकार को उखाड़ फेंकने में अहम भूमिका निभाई और 1990 में भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी की रथयात्रा को रोककर देश को सांप्रदायिक दंगों से बचाया था। बिहार में एक और सकारात्मक बात हुई है कि महाराष्ट्र चुनाव में अपना झंडा फहराकर भाजपा को फायदा दिलाने वाले असहृद्दीन ओवैसी को बिहार की जनता ने चुनाव में ठेंगा दिखा दिया और डन्हें वहां से बैरंग लौटना पड़ा है।

लेकिन बिहार चुनाव में जिन ताकतों की जीत हुई है, उनपर भी सतर्क नजर रखने की जरूरत है। वैसे तो इस बार के बिहार चुनाव में जातीयता को घसीटने की शुरुआत भाजपा ने ही की लेकिन महागठबंधन में शामिल दलों का भी पिछला रिकॉर्ड बहुत ही जातिवादी रहा है। सजप मानती है कि जातिवादी ताकतों का लंबे समय तक बने रहने से उसके सांप्रदायिक ताकतों में बदलने में देर नहीं लगती है। उत्तर प्रदेश इसका उदाहरण है जहां सांप्रदायिक ताकतें इसी जातिवाद के माध्यम से मजबूती पाती रही हैं।

जातिवाद और सांप्रदायवाद की आड़ में नव उदारवाद की नीतियों को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसी आड़ में प्रतिक्रियावादी और साम्राज्यवादी ताकतें देश का एजेंडा तय कर रही हैं और बाकी संगठन उसपर प्रतिक्रिया भर व्यक्त कर पा रहे हैं। इसका ताजा उदाहरण भी बिहार चुनाव है जिसका परिणाम आने के दो दिनों के अंदर ही 10 अक्तूबर तो केंद्र की सरकार ने 15 क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का दरवाजा खोल दिया है। वहीं बिहार सरकार ने भू उपयोग कानून में संशोधन कर कृषि भूमि को औद्योगिक भूमि में परिवर्तन का कानून बहुत सरल करके उद्योगपतियों को राहत पहुंचाने और किसानों के लिए आफत लाने का काम किया है। इस तरह हम देखते हैं कि उदारिकरण के स्तर पर सभी दल एक ही रेखा पर खड़े हैं। सजप इस तरह की सरकारों की नीतियों की सख्त निंदा करती है और परिवर्तनवादी ताकतों को सचेत कर उनसे देश का एजेंडा खुद तय करने की पहल करने का आह्वान करती है। हालांकि बिहार सरकार के राज्य में शराबबंदी योजना को सजप सराहती है बशर्ते की देसी-विदेशी सभी तरह की शराब पर रोक लग जाए।

इसके साथ ही देश भर में कुकुरमुत्ते की तरह फैल रही स्मार्ट सिटी योजना के तहत केंद्र की सरकार संविधान की धज्जियां उड़ा रही हैं असल में संविधान में गांवों के आर्थिक और सामाजिक न्याय को ध्यान में रखते हुए पंचायत अनुसूची के तहत गांवों की अस्मिता को अक्षुण्ण रखा गया है, जिसे स्मार्ट सिटी योजना के तहत खत्म कर ग्रामीण जमीन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर हमला किया रहा है। संविधान में प्रदत्त स्थानीय निकायों के कानूनों को केंद्र और राज्य के पाले में डाला जा रहा है और स्थानीय निकायों जैसे नियमगिरि के पंचायतों के अधिकार पर केंद्र सरकार फैंसला ले रही है। यह असंवैधानिक गतिविधि है जिसे तत्काल रोके जाने की जरूरत है।

पेरिस में हुए आतंकी हमले में मारे गए लोगों की

श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए सजप यह भी स्पष्ट करना चाहती है कि इस तरह का आतंकवाद वैश्विक पूंजीवाद और पूरी दुनिया की प्राकृतिक संपदा पर कब्जा करने का परिणाम है। पश्चिमी एशिया के तेल भंडारों पर कब्जे की नीति के तहत विकसित देश वहां समय-समय पर आतंक को बढ़ावा देते रहे हैं। अब यही नीति उनके लिए भी भस्मासूर बन चुकी है। आतंकवाद की निंदा के साथ ही सजप विकसित देशों की नीतियों की भी निंदा करती है।

नैरोबी में कुछ ही दिनों में वाणिज्य मंत्रियों की बैठक में एक एमओयू यानी समझौता पर दस्तखत होने हैं। इसमें उच्च शिक्षा का व्यावसायिकरण कर दिया जाएगा। इस नीति को प्रस्तावित करने में देश की पिछली यूपीए सरकार रही है। इसके खिलाफ देशभर में शिक्षक-छात्र, शिक्षाविद आंदोलित हैं। पिछले 7 से 14 दिसंबर तक नई दिल्ली के जंतर मंतर पर अखिल भारतीय शिक्षा अधिकार मंच का धरना चल रहा है। सजप इस आंदोलन में सक्रिय रूप से शामिल है और इसे अपना पूरा समर्थन देती है। इसी नीति से जुड़कर केंद्र सरकार द्वारा छात्रों को दी जानेवाली छात्रवृत्ति खत्म करने पर काम हो रहा है। इसके खिलाफ विभिन्न छात्र संगठनों का अक्यूपाई यूजीसी आंदोलन दिल्ली

में चल रहा है। सजप की युवा इकाई विद्यार्थी युवजन सभा इस आंदोलन में भागीदारी कर रही है और हम इस आंदोलन की सफलता की कामना करते हैं। लेकिन संसद में इन मुद्दों पर वामपंथी समेत तमाम दलों की चुप्पी की निंदा भी करते हैं।

पेरिस में हाल में संपन्न जलवायु परिवर्तन पर आयोजित विश्व सम्मेलन में मूल समस्या पर कोई चर्चा न होने से सजप निराशा व्यक्त करती है। जलवायु परिवर्तन कोई प्राकृतिक गतिविधि नहीं बल्कि मानवीय उपभोक्तावाद का नतीजा है। चेन्नई में आई बाढ़ इसका एक उदाहरण हो सकता है। पेरिस सम्मेलन इसके मूल कारणों में न जाकर कुछ ऊपरी समाधान तक ही सीमित रहा है। इसलिए इन वार्ता दौरों से कुछ हासिल होने की उम्मीद नहीं की जा सकती है। बिना विकास मॉडल और औद्योगिक मॉडल बदले इस समस्या को रोका नहीं जा सकता है।

इसके अलावा सजप उत्तर बंगाल के चाय बगान मजदूरों की दुर्दशा और सरकार की नजरअंदाजी पर चिंता जाहिर करती है और राज्य सरकार से मांग करती है कि इस पर तत्काल सुधारात्मक कदम उठाए जाएं।

वार्ता के लिए लिखें

आज दुनिया में काफी उथल-पुथल मची हैं। कई तरह के संकट पैदा हो रहे हैं। इनके खिलाफ असंतोष, बेचैनी, आंदोलन और विद्रोह भी काफी व्यापक है। किंतु इनको समझने और आगे बढ़ाने के लिए विचार-विश्लेषण भी जरूरी है। वैचारिक प्रक्रिया बगैर विरोध और विद्रोह के दिशाहीन होकर भटक जाएगी। इसी संदर्भ में सामयिक वार्ता का महत्व है, विचार, विश्लेषण, संवाद और विमर्श के एक मंच के रूप में। हम यह चाहते हैं कि इसमें व्यापक भागीदारी हो और यह थोड़े से बुद्धिजीवियों का बुद्धि विलास बनकर न रह जाए। इस देश में हिंदी का क्षेत्र बहुत बड़ा है। वार्ता देश के हर कोने में पहुँचे, यह हमारी इच्छा है। जनांदोलनों के कार्यकर्ताओं के लिए वार्ता वैचारिक शिक्षण और जानकारी का स्रोत बने, यह भी इच्छा है। हम चाहते हैं कि वार्ता की भाषा पांडित्यपूर्ण होने के बजाए सरल, सहज और ऐसी हो कि साधारण पढ़े-लिखे लोग आसानी से समझ सकें। गहन विषयों और विमर्श को भी सरलभाषा में पेश किया जा सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम सामयिक वार्ता के विषयों का दायरा बढ़ाने और उसमें ज्यादा विविधता लाना चाहते हैं। राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र और जनांदोलनों के साथ हम इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य, फिल्म, रंगमंच, विज्ञान, पर्यावरण, कानून, मानव अधिकार, खेल आदि जीवन के विविध पहलुओं को भी छूना चाहते हैं। लेखों के अलावा रपट, बातचीत, समीक्षा, डायरी, कविता आदि को भी हम वार्ता का हिस्सा बनाना चाहते हैं। इसकी कुछ झलक वार्ता के पिछले अंकों में मिली होगी। मोटे तौर पर गाँधी, लोहिया, जयप्रकाश, आंबेडकर की धारा से जुड़े होने के बावजूद हम वैचारिक रूप से ज्यादा खुलेपन की वार्ता में गुंजाइश रखना चाहते हैं और विविध वैचारिक धाराओं के बीच संवाद और स्वस्थ बहस को भी बढ़ाना चाहते हैं। दुनिया में जहाँ भी इक्कीसवीं सदी के समाजवाद के नए प्रयोग हो रहे हैं, उनकी जानकारी देना और विचार-मनन के लिए पेश करना भी हम अपना काम मानते हैं। आज मीडिया तेजी से कॉर्पोरेट मीडिया बनता जा रहा है। मुनाफे की पूजा के चक्कर में मीडिया में विचार की जगह बची ही नहीं है और एक तरह के अराजनीतिकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है। वैकल्पिक मीडिया की जरूरत आज और ज्यादा बढ़ गई है। इस संदर्भ में भी सामयिक वार्ता का महत्व है।

आशा है कि आपका सहयोग इस प्रयास में मिलता रहेगा। आप हमें अपनी रचना डाक या ई-मेल से भेज सकते हैं।

कठघरे में है सत्ता-व्यवस्था

सत्ता सीखती नहीं, सिखलाती है, सवर्णवादी सत्ता-व्यवस्था से सीखने की उम्मीद करना बेमानी है। रोहित वेमुला की हत्यानुमा आत्महत्या (यथार्थ में हत्या, किंतु कागज पर आत्महत्या) से भी सत्ता-व्यवस्था ने कुछ नहीं सीखा। 17 जनवरी, 2016 को रोहित वेमुला को जीवन-संसार से बाहर निकालने वाली सत्ता-व्यवस्था का विरोध करने वाले उत्तर प्रदेश में लखनऊ स्थित अंबेडकर विश्वविद्यालय के दो छात्रों को छात्रावास से निकाल-बाहर कर दिया गया। दोनों छात्रों का कसूर यह था कि दोनों ने 22 जनवरी, 2016 को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के लखनऊ स्थित अंबेडकर विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह के मंच पर पहुंचने के समय 'नरेंद्र मोदी वापस जाओ' और 'नरेंद्र मोदी मुर्दाबाद' के नारे लगाए थे। अंबेडकर विश्वविद्यालय के विद्यार्थीगण रोहित वेमुला के साथ हुए सरकारी अन्याय से मन-मस्तिष्क से खौल रहे हैं। यह अस्वाभाविक नहीं।

भारतीय सत्ता-व्यवस्था का यह सत्य है कि दलित सत्ता-व्यवस्था में जाते ही सवर्ण मानसिकता का हो जाता है। हमारे सामने स्वर्गीय जगजीवन राम थे और रामविलास पासवान इत्यादि हैं। मायावती के पैरों को छू-छूकर सवर्णवादियों ने उन्हें भी दलित मानसिकता का नहीं रहने दिया। सत्ता-व्यवस्था प्रकृति से सवर्णवादी है। रोहित वेमुला का अन्याय का शिकार हो जाना भारतीय न्याय-व्यवस्था को भी कठघरे में खड़ा करती है। निःसंदेह भारत का संविधान और भारतीय संसद रोहित (वेमुला) रहित नहीं हैं, किंतु रोहित सहित भी नहीं है। भारत के एक विश्वविद्यालय-हैदराबाद-विश्वविद्यालय-में पिछले दशक में आठ दलित छात्रों ने आत्महत्या की है। भारतीय संसद बोली तक नहीं, बौखलाने की बात तो बहुत दूर है। रोहित वेमुला पर भी ब्राह्मणवादी शक्तियां चीखने-चिल्लाने लगी हैं कि रोहित वेमुला को दलित मानना-बोलना विकास की राजनीति को दूषित करना है, जबकि भारतीय सांसदों-विधायकों का नाम-नामांकन, मतदान-निर्वाचन पूर्णतः जाति-धर्म आधारित है। जिस देश में राम और रावण, कृष्ण और कंस जैसे मिथक भी जाति आधारित हैं, वहां वैज्ञानिक सोच-समझ आने की बात बेमानी तो नहीं लगती, किंतु एक लंबी प्रक्रिया लगती

है। देश-दुनिया ने रोहित वेमुला को खो दिया, किंतु उनकी देश-दुनिया से दूर करने के घनघोर अन्याय के विरुद्ध एक व्यवस्थित लड़ाई लड़ने की आवश्यकता है। ब्राह्मणवादी ताकतें कभी नहीं चाहेंगी कि रोहित वेमुला जैसी ब्राह्मणविरोधी शक्ति सिर उठाए। ब्राह्मणवाद दोधारी तलवार है, जिसके विरुद्ध बाजारवाद नहीं है, बल्कि बाजारवाद को नफा ब्राह्मणवाद को बनाए रखने में है, मिटाने में नहीं।

रोहित वेमुला का फेसबुक पर आया अंतिम पत्र गुडमार्निंग से शुरू है, बैड नाइट से नहीं। हमें गुड मार्निंग की ओर बढ़ना है। हमारे जीवन का लक्ष्य गुड मार्निंग बने, जबकि वर्तमान में गहरी काली रात है। रोहित की मां राधिका, उनकी बहन नीलिमा और भाई राजा ने हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय की ओर से दी गई अनुग्रह राशि-आठ लाख रुपए-टुकराकर और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और केंद्रीय मानव संसाधन मंत्री स्मृति ईरानी की आलोचना कर रोहित वेमुला की वैचारिक लड़ाई को आगे बढ़ाया है। एक दलित परिवार की रुपए से मुंह बंद करने की और अन्याय पर पूर्ण विराम न लगाने की व्यवस्थावादी परंपरा है। रोहित को उनकी फेलाशिप बीते सात महीने से नहीं मिल रही थी यानी उसे अपने जीवन-संघर्ष के दौरान संघर्ष से दूर करने के लिए नई दिल्ली और हैदराबाद ने सुनियोजित षडयंत्र किया, जिसकी न्याय-व्यवस्था ने कोई खोज-खबर नहीं ली।

भारत के संविधान और भारतीय संसद में रोहित वेमुला पर सोचने-विचार करने की यदि व्यवस्था है तो किसी के पास समय नहीं। उन्होंने अपने अंतिम पत्र में क्यों यह लिखा कि मेरे जैसे लोगों के लिए जीवन अभिशाप ही रहा। मेरा जन्म एक सांघातिक-प्राणहर दुर्घटना थी। यदि उनका जन्म एक सवर्ण जाति-परिवार में हुआ होता तो भी क्या उनका जन्म अभिशाप होता या भयंकर दुर्घटना होती? कभी नहीं। सवर्ण निर्धन होता है, उसका जीवन गरीबी के कारण अभिशाप बन जाता है, किंतु उसका जीवन कदापि एक भयंकर दुर्घटना नहीं होता। एक घनघोर ब्राह्मणवादी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था एक दलित का जीवन अभिशाप बनाने-बताने के साथ-साथ एक भयंकर दुर्घटना

में परिवर्तित कर देती है। सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था की मां है।

रोहित वेमुला ने देश-दुनिया से जाते-जाते अपने अंतिम पत्र में यह भी कहा है कि 'आप जान जाएं कि मैं मरकर खुश हूँ जीने से अधिक।' किसी सत्ता-व्यवस्था के लिए इससे गंदी गाली नहीं हो सकती कि उसके अधीन जीने वाला युवा यह बोले कि मैं जीने से अधिक मरकर खुश हूँ। भारतीय न्याय-व्यवस्था संभव है कि रोहित वेमुला

के दुनिया से जाने को दुखद आत्महत्या बोल-बताकर मौन हो जाए, इससे अधिक की अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। इसके पूर्व हैदराबाद विश्वविद्यालय में आत्महत्या किए गए आठ दलित छात्रों का क्या हुआ? दलित छात्र आत्महत्या के लिए ही होते हैं-खासकर रोहित वेमुला जैसे प्रतिभावान दलित? हर पढ़े-लिखे को अपने अंदर झांकने की जरूरत है।

—रत्नेश कुमार, गोहाटी

संगठन समाचार

समाजवादी जन परिषद मध्यप्रदेश की राज्य समिति की बैठक ग्राम गोन्ता पंचायत क्षेत्र डभौरा विकासखण्ड जवा तहसील जवा जिला रीवा में राष्ट्रीय समिति के सदस्य अजय खरे की अध्यक्षता में शनिवार 16 जनवरी को सम्पन्न हुई। बैठक में प्रदेश महामंत्री फागराम ने संगठन की गतिविधियों की जानकारी देते हुए चर्चा के मुख्य बिंदुओं का उल्लेख किया। प्रदेश उपाध्यक्ष स्मिता ने बैतूल जिला में बड़े पैमाने पर गरीबों को अतिक्रमण के नाम पर बेघरवार करने की प्रशासनिक कार्यवाही को जनविरोधी कृत्य बताते हुए उसके खिलाफ जिलाध्यक्ष कार्यालय बैतूल के सामने हो रहे सजप के द्वारा चलाए जा रहे जनआंदोलन के संघर्ष के बारे में बताया। समाजवादी जन परिषद की प्रदेश अध्यक्ष रुषा सोनी ने नारी चेतना मंच के 20 फरवरी 2016 को होने वाले सम्मेलन के बारे में बताया। अजय खरे ने बताया कि आगामी 27-28 और 29 मार्च को सजप की राष्ट्रीय समिति की रीवा में होने जा रही बैठक की तैयारी चल रही है। बैठक का स्थान और आने वाले साथियों के ठहरने की व्यवस्था स्वयंवर बारातघर नरेन्द्रनगर रीवा में की गई है। अभी कितने लोगों ने रीवा आने के लिए रेलवे आरक्षण करा लिया है इसकी सूचना नहीं है। उन्होंने बताया कि रीवा जिला में कई ग्रामीण अंचलों में जनवरी माह से ही पानी का संकट गंभीर हो गया है। सरकारी जल प्रबंधन की स्थिति काफी खराब है। आम आदमी पशु पक्षियों की मुश्किलें काफी बढ़ गई हैं। पानी को लेकर पलायन के आसार नजर आ रहे हैं।

सजप बैठक में समाजवादी जन परिषद की राष्ट्रीय समिति के सदस्य एवं श्रमिक नेता चित्त डे, भारत जन आंदोलन के सूत्रधार डॉ ब्रह्मदेव शर्मा, साइन्स सेंटर ग्वालियर के प्रणेता अरुण भार्गव और प्रगतिशील कथाकार डॉ महीप सिंह के निधन पर गहरा शोक व्यक्त करते हुए उनके महान योगदान को याद किया गया और दो मिनट की मौन श्रद्धांजलि दी गई।

समाजवादी जन परिषद की बैठक में गरीबों को मिलने वाली वृद्धावस्था पेंशन योजना की विसंगतियों का जिक्र किया गया जिसमें बड़ी संख्या में पात्रों की अनदेखी हो रही है। डभौरा क्षेत्र के गोन्ता के छोटेलाल आदिवासी राम खिलावन आदिवासी जगपतिया लाला आदिवासी सियावती आदिवासी जमुना आदिवासी लक्ष्मी फूलकली आदिवासी आदि को वृद्धावस्था पेंशन नहीं मिल रही है। कौशिल्या द्विवेदी श्यामकली आदि को विधवा पेंशन नहीं मिल रही है। फूलझरिया की पेंशन कई साल से बंद है।

राज्य समिति की बैठक में सदस्य करुणा आदिवासी रामसुमिरन आदिवासी विनोद द्विवेदी (डभौरा) गुलिया बाई और रावेल (केसला) और सदराम (हरदा) ने भी भागीदारी की। पटियारी से छोटी वर्मा रुक्मणी हरिजन गुड़िया सुनीता हरिजन भी शामिल हुए। इसके साथ ही डभौरा गोन्ता से कौशिल्या द्विवेदी शंकर आदिवासी कैलाशपति हरिजन चन्द्रकली आदिवासी देवपुजा गेंदिया आदिवासी सियावती फूलकली फूलन श्यामकली सुशीला आदिवासी फूल कुमारी केशकली मुन्नी देवी जगपतिया आदि भी शामिल हुए।

—अजय खरे

सदस्य, राष्ट्रीय कार्यकारिणी, समाजवादी जनपरिषद

साथी चित्त डे नहीं रहे...

प्रतिबद्ध समाजवादी ट्रेड यूनियन नेता साथी चित्त डे नहीं रहे। गत 28 दिसम्बर को जलपाईगुड़ी स्थित अपने निवास स्थान पर 87 वर्ष की अवस्था में उन्होंने अंतिम सांस ली। उनका जन्म 1929 में तत्कालीन पूर्व बंगाल (अब बांग्लादेश) के नोआखाली में हुआ था। बचपन में ही अपने पिता के साथ वे जलपाईगुड़ी आ गए थे जहां उनके पिता स्थाई तौर पर बस गए।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना के समय से है उत्तर बंगाल के इस जिले - जलपाईगुड़ी में दल का मजबूत आधार था। समाजवादियों का भूमिहीन खेत मजदूरों और चाय बागान के मजदूरों में बहुत अच्छी पकड़ थी। स्वतंत्रता संग्राम के इस स्वर्णिम माहौल में चित्त डे की परवरिश हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन में जयप्रकाश नारायण तथा राममनोहर लोहिया जैसे नेताओं की चित्त डे पर गहरी छाप पडी और फलस्वरूप वे जुझारू और कट्टर समाजवादी बन गये।

1960 में वे सोशलिस्ट पार्टी के साथ सक्रियता से जुड़ गए। समाजवादियों के नेतृत्व में चल रहे चाय बागान श्रमिकों के ट्रेड यूनियन से वे सम्बद्ध हो गए। कुछ समय बाद वे पश्चिम बंग चा श्रमिक यूनियन के महामंत्री चुने गए। वे उत्तर बंग मोटर कर्मी संघ के अध्यक्ष भी थे तथा चाय बागान इलाके में सक्रिय 24 ट्रेड यूनियनों की संयुक्त समन्वय समिति के मृत्यु-पर्यन्त संयोजक थे। इन ट्रेड यूनियनों में सीटू (CITU), एटक (AITUC), युटक (UTUC), इंटक (INTUC) तथा हिन्द मजदूर सभा (HMS) आदि प्रमुख हैं।

चाय बागान श्रमिकों के अलावा उन्होंने सिनेमा कर्मचारी, परिवहन कर्मी, बीडी निर्माता मजदूर, दुकान तथा प्रतिष्ठान कर्मचारी तथा मुटिया मजदूरों को भी संगठित किया। मृत्यु से कुछ दिनों पहले दुर्घटनावश एक व्यक्ति का धक्का लग कर वे सड़क पर गिर गये थे तथा उनके दहिने

हाथ की हड्डी टूट गई थी। अन्यथा उनकी सेहत सामान्य थी। मृत्यु के एक दिन पहले भी उन्होंने कार्ला वैली चाय बागान के मजदूर साथियों के साथ उनकी समस्याओं के बारे में लम्बी चर्चा की थी। ट्रेड यूनियन आन्दोलन के अलावा इलाके के विभिन्न आन्दोलनों से भी वे सक्रियता से जुड़े रहे। जलपाईगुड़ी के लोगों तथा जलपाईगुड़ी बार एसोशियेशन ने कोलकाता उच्च न्यायालय की खंदापीठ की स्थापना की मामा के समर्थन में लम्बा आन्दोलन चलाया था। जलपाईगुड़ी जिला न्यायालय के समक्ष महीना भर चले 'अवस्थान सत्याग्रह' में भाग लेने के कारण 14 अन्य लोगों के साथ उन्हें अदालत की अवमानना के जुर्म में 6 माह की सजा हुई, बाद में सर्वोच्च न्यायालय के हस्तक्षेप से वे रिहा हुए।



साथी चित्त डे की मृत्यु की खबर सुन कर बड़ी तादाद में लोग उनके आवास पर इकट्ठे हो गए। उनका मृत देह पश्चिम बंग श्रमिक यूनियन तथा समाजवादी जनपरिषद के झंडे में लपेट कर यूनियन तथा पार्टी के दफ्तर में पूर्वाह्न 11 बजे रखा गया। सभी राजनैतिक दलों, सामाजिक संगठनों, ट्रेड यूनियनों के नेताओं तथा श्रमिकों ने दिवंगत नेता

को फूल चढ़ाए। साढ़े चार बजे एक विशाल जुलूस शकल में उनकी अंतिम यात्रा अन्त्येष्टी घाट तक दो किलोमीटर पैदल चल कर पहुंची जहां शोक तथा आंसुओं के साथ विद्युत शवदाह गृह में उन्हें विदा किया गया। 10 दिसंबर 2016 को साथी अखिलबन्धु सरकार साथी चित्त डे के स्थान पर बने महामंत्री पश्चिम चा श्रमिक यूनियन, साथी बिल्कन बाडा, राज्य महामंत्री समाजवादी जनपरिषद, पश्चिम बंग तथा उत्तर बंग मोटर कर्मी संघ साथी मधुसूदन देब के आवाहन पर स्थानीय नगर पालिका सभागार में स्मृति सभा का आयोजन हुआ। यह सभा अभूतपूर्व थी जिसमें विभिन्न दलों, ट्रेड यूनियनों और सामाजिक संगठनों के नेता तथा साढ़े चार सौ मजदूर शामिल हुए थे।

—कमल बनर्जी